कला विनोद

संपादक
अशोक वाजपेयी

हिंदी म आलोचना साहित्य पर कुछ इस तरह एकाग्र है कि ललित कला, सगीत आदि पर गभीर सामग्री प्राय दुर्लभ है। रगमच के क्षेत्र मे अलबत्ता आलोचना ने कुछ महत्त्वपूण प्रयत्न किया है। पर कुल मिलाकर स्थिति ऐसी है कि औपचारिक चिंतन विश्लेपण बहुत कम है, और अनौपचारिक सामग्री भी। आलोचना द्वैमासिक पूवग्रह हिंदी की सभवत पहली ऐसी पत्रिका रही है जिसने सास्कृतिक साक्षरता को साहित्य के अलावा अय कलाओ के क्षेत्र मे भी जिम्मेदारी और गभीरता के साथ व्याप्त करने का यत्किंचित यत्न किया है। निरी धारणाओ और मात्र प्रवृत्तियो के विश्लेषण मे उलझी आलोचना-दृष्टि को 'पूवग्रह' ने यथासभव कृति और कृतिकारो पर केंद्रित करने पर विशेष बल दिया। इस सिलसिले मे अनेक चित्रकारो, सगीतकारो आदि पर विशेषाक प्रकाशित हुए हैं। इनमे प्रकाशित सामग्री का एक चयन इस सकलन मे प्रस्तुत है। इसमे श्री जे० स्वामीनाथन् और श्री रामकुमार जैसे चित्रकार के साथ युवा चित्रकार श्री विवान सुदरम्, आज सगीत परिदश्य मे सुप्रतिष्ठित और सक्रिय श्री कुमार गधव और श्रीमती किशोरी अमोनकर, देश के दो प्रख्यात रगकर्मियो श्री ब० व० कारत और श्री सत्यदेव दुबे से बातचीत शामिल है। अमरीकी कला विचारक श्री हैरल्ड रोज़ेनबग ने अपनी मृत्यु के कुछ महीने पहले जो एक लबा इटरव्यू दिया था उसका एक छोटा सस्करण और फ्रेंच लेखक और दाशनिक श्री ज्या पाल सात्र का इटरव्यू भी इस पुस्तक मे शामिल हैं। सात्र ने सगीत जैसे विषय पर इससे पहले कुछ नही कहा था और यह इटरव्यू उनकी मृत्यु के कुछ समय पहले ही प्रकाशित हुआ था।

(अशोक वाजपेयी)

क्रम

संगीत का नया सौंदर्यशास्त्र

मार गधर्व से अशोक वाजपेयी, रमेशचन्द्र शाह
राहुल बारपुते और मगनेश डडगल की बातचीत

कुमार गंधर्व ने अपनी अद्वितीय कल्पना और सृजनात्मक प्रयोगशीलता के जरिए हिंदुस्तानी संगीत को नयी समृद्धि प्रदान की है। यह भी कहा जा सकता है कि संगीत के इतिहास में एक अद्भुत बदलाव आपने ला खड़ा किया है।

कुमार गंधर्व का पूरा नाम शिवपुत्र सिद्धरामय्या कोमकाली है। आप अनेक बरसों से देवास में रह रहे हैं। मालवी लोक संगीत, ऋतु संगीत तथा कबीर, सूर, मीरा के पदों का उत्कृष्ट गायन प्रबुद्ध और संगीत रसिक समाज में रच-बस सा गया है। मध्यप्रदेश शासन की ओर से मध्यप्रदेश कला परिषद् द्वारा उत्सव ७३ में, राष्ट्रीय संगीत नाटक अकादमी द्वारा राष्ट्रीय पुरस्कार और भारत शासन द्वारा पद्मभूषण से आपको समय समय पर सम्मानित भी किया गया।

आपके गायन के अनेक रिकार्ड प्रकाशित हो चुके हैं। एक पुस्तक **अनूपराग विलास** भी आपने लिखी है। आपके सांगीतिक व्यक्तित्व पर केंद्रित **पूर्वग्रह** का एक पूरा अंक भी प्रकाशित हुआ है। देश की ऐसी कोई महत्वपूर्ण संगीत सभा न होगी जिसने कुमार जी को गायन के लिए निमंत्रित कर सम्मान न अर्जित किया हो। इन दिनों आप मध्यप्रदेश शासन के संस्कृति सलाहकार मंडल के उपाध्यक्ष हैं।

●

अशोक वाजपेयी इस समय के सबसे विवादास्पद संस्कृतिकर्मी हैं। उनके पहले कविता संकलन **शहर अब भी संभावना है** और आलोचनात्मक अध्ययन के संकलन **फिलहाल** ने नयी बहस के सिलसिले को शुरू किया। उनके द्वारा संपादित अनियतकालिक **समवेत**, पंद्रह युवा कवियों की रचनाओं के बिल्कुल पहले संकलनों की सीरीज---**पहचान** और साहित्य और कलाओं के आलोचना द्वैमासिक---**पूर्वग्रह** ने भी हिंदी साहित्य संसार का ध्यान अपनी ओर खींचा है। पूर्व में **पूर्वग्रह** में संगृहीत महत्वपूर्ण समीक्षाओं का एक चयन **तीसरा साक्ष्य** भी प्रकाशित हुआ है।

फिलहाल वे भोपाल रह रहे हैं और मध्यप्रदेश शासन संस्कृति तथा सूचना प्रकाशन विभाग के विशेष सचिव हैं। साथ ही मध्यप्रदेश कला परिषद के सचिव और उस्ताद अलाउद्दीन खां संगीत अकादेमी के संचालन पद की जिम्मेदारी भी निभा रहे हैं।

रमेशचंद्र शाह महत्वपूर्ण कवि-कथाकार-आलोचक। 'छायावाद की प्रासंगिकता', 'समानांतर' (आलोचनात्मक निबंध संकलन), 'कछुए की पीठ पर', 'हरिश्चंद्र आओ' (कविता संकलन), 'जंगल में आग' (कहानी संकलन) और 'मारा जाई खुसरो' (नाटक) प्रकाशित।

राहुल बारपुते सुविख्यात कला समीक्षक। हिंदी और मराठी दोनों भाषाओं के प्रमुख पत्रों में समय समय पर संगीत, नृत्य, नाटक और चित्रकला पर विचारोत्तेजक समीक्षाएं प्रकाशित हुई हैं। संगीतकार उस्ताद अलाउद्दीन खां की आत्मकथा और चित्रकार देवकृष्ण जयशंकर जोशी पर आपने दो मोनोग्राफ भी तैयार किए हैं।

आपने इंदौर से प्रकाशित दैनिक **नई दुनिया** का संपादन भी किया है। इन दिनों आप मध्यप्रदेश शासन के संस्कृति सलाहकार मंडल के सदस्य और मध्यप्रदेश कला परिषद् के उपाध्यक्ष हैं।

मंगलेश डबराल अग्रणी युवा कवि। कुछ समय **पूर्वग्रह** में बतौर सह-संपादक रहे। इन दिनों अमृत प्रभात के संपादकीय विभाग में।

वह बारिश का दिन न होता तब भी कुमार गधव के देवासस्थित 'भानुकुल' मे—जहा बातचीत हुई—वही बहुत धीमा, कोमल-सा अधेरा, बल्कि बहुत धीमा-कोमल उजाला होता। और वह स्निग्ध सी शाति भी होती जिसका कुमार गधव के सगीत से अवश्य एक सबध है। चौतरफ अनेक तरह की वनस्पतिया से घिरे उनके घर मे आखो को दिखने और चुभने वाली सपनता बिल्कुल नही है वहा सगीतज्ञ की हवेली जैसा कोई वशगत वातावरण भी नही है और न वैसी चमकीली भव्यता है जैसी अतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्ति के बाद अक्सर भारतीय सगीतज्ञो के यहा पाई जाती है। बहुत करीने से रखे गए तानपुरो, तबलो—जिसम से बायें का उपयोग कुमार गधव कुहनी टेकने के लिए करते हैं—और एक 'सामान्य जीवन' को जतलाने वाली चीजो के उस घर मे एक ऐसी सौम्यता है और वह इतनी आत्मीय है कि एकाएक वहा रहने की इच्छा होने लगती है। बातचीत म शरीक एक व्यक्ति को पहली बार मे ही वह बहुत परिचित घर लगा जैसे वह कई बार वहा आया हो।

इस पूव निर्धारित बातचीत के लिए कुमार गधव प्रश्नकर्ताओ की प्रतीक्षा मे थे। अधिकतर सवाल पहले तैयार कर लिए गए थे, लेकिन करीब पाच घटे की बातचीत मे कुछ पूरक या नये प्रश्न भी पैदा हुए और कई जगह बातचीत बहस म भी बदलने लगी। ऐसे स्थलो को विस्तार भय और बातचीत का स्वरूप बनाए रखने की दृष्टि से निकाल दिया गया है। कुमार गधव शायद कन्नड भाषी होने के कारण हिंदी बहुत तेजी से बोलते है, मराठी-भाषी होने के कारण मराठी शब्दो का भी बहुधा उपयोग करते हैं और उनकी हिंदी सुनना तो दिलचस्प है ही, जो वाक्याशो मे बटी होती है और अक्सर वह वाक्यो को आधा कहकर अपना भगिमाओ या चुप्पी से उन्हे पूरा कर देते है। बात करने का यह लहजा स्वाभाविक रूप से इस आलेख म नही आ सका है, और कई महत्त्वपूर्ण बातें इस विवशता के चलते काट देनी पड़ी हैं, लेकिन काफी सपादन

करते हुए भी यह ध्यान रखा गया है कि कुमार गधव का बातचीत का वह ढग धुधला भले ही हो, एकदम गायब न हो जाए।

●●

> **आपकी कल्पनाशीलता और प्रयोगों से गायन मे एक अदभुत बदलाव आया है और शास्त्रीय सगीत वह नहीं रह गया है जसा कि पहले था या आपके बिना होता। सगीत के इतिहास मे आया यह मोड बहुत बडी घटना है। शास्त्रीय सगीत का जो एक पारपरिक ढाचा औरो के यहा है, आपके यहा वह बहुत बदला है। कई नये तत्त्व—ऐसे जो औरों के यहा नहीं हैं, आपके यहा हैं। जो एक प्रत्याशित सगीत है, जिसकी आज**

नही ऐसा है कि कारण क्या है। कोई भी प्रयोगशील कलाकार उस क्षेत्र म पहले का जितना ज्ञान होता है उसे हासिल किए बिना कुछ कर नही सकता। शास्त्रीय सगीत म खास करके। हम कोई फिल्म के सगीत निर्देशक तो हैं नही कि धुन बनाई और चले गए। सगीत शास्त्र म तो कुछ बदल हो नही सकता। और मेरे बिना, इस प्रकार का मैं नही गाता तो सगीत अधूरा रहता यह बात अलग है। मेरी जगह दूसरा कोई होता। सब लोगा का प्रश्न है कि कुमार का सगीत अलग क्यो लगता है। विचार तो उसके पीछे है ही, मगर क्या विचार है? खाना वही है पदार्थ भी वही हैं पर कुछ अलग मजा आ रहा है लोगा को। इसलिए टीका भी होती है। कभी तक किसी सगीतकार के ऊपर इतनी बडी टीका नही हुई। विरुद्ध भी लिखा गया है और पागलपन जैसा भी लिखा गया है। और कवि लोगो ने कविताए भी लिखी है। कुमार गधव पर लिखे बिना उनको मजा ही नही आता।

तो सगीत मे विचार—यही मैं अलग होता हू। रियाजी गाना अलग चीज है। कला मे सिफ रियाज का कोई स्थान नही है। एक तरफ तो सगीत को कला कहने का और फिर रियाज लगाने का उसके पीछे, जैसे डड-बठक निकालते हैं—रियाज का मतलब अपने यहा ऐसा ही है। कुछ सीमा तक किसी कला को शिक्षण के लिए व्याख्या के हिसाब से उसको बाध के रख देते है कि उसे समझा सकें। राग सिखाने को आसान है। राग का रूप जब विद्यार्थियो को सिखाने लगते हैं तो फौरन उसको उसकी स्वरावली आ जाए और चार पाच गाने आ जाए तो उसे राग आ गया ऐसा हम लोग समझते है। पर अभी ठुमरी का कोई शास्त्र नही हुआ है यानी शास्त्रीय सगीतकार को ठुमरी गाना आए, ऐसा नही। उसकी रचना, भावभूमि ही अलग है। इसलिए अच्छे-

अच्छे गवैये लोग भी ठुमरी गा नहीं सकते। वे उस मूड मे जा ही नही सकते, क्योंकि सिखाने वाला कोई नही होता और तालो का भी बंधन नही और बराबर उसमे रूप बनना चाहिए। शास्त्रीय संगीत मे क्या है कि राग से पहले रूप है, ताल का रूप है। बिना कुछ करे स्वाभाविक आकार आ जाता है। ठुमरी आपको गाना नही आएगा तो रूप ही नही आएगा।

आपने अभी कहा कि विचार के कारण आपके संगीत मे या कि आपके संगीत के जायके मे अंतर आया है। इसे कुछ स्पष्ट करें।

मैं इधर क्यों मुड़ा। जो चालू संगीत है मैं भी उसे गाता था। यह उस वक्त की बात है, जब मेरी यानी मेरी दूकान काफी चल रही थी। कोई कमतरी मुझे नहीं थी। पर फंस गया उसमे। आनंद नहीं व्यक्त हो रहा था। लोग गाते हैं, जरूर अच्छा गाते हैं, अपन भी गाते हैं। ऐसा कैसे चलेगा? राग संगीत मे रस और भाव बहुत मुश्किल बात है, क्योंकि यह बंधनयुक्त संगीत है। राग संगीत मे बंधन ही बंधन हैं। अभी जितना संगीत अच्छा बुरा जो भी चला आ रहा है, वे सब गायक व्याकरण में अटके हुए लोग थे। यह उन पर बोझ है, उसमे से वे बाहर नही निकले। ऐसा मुझे महसूस हुआ। तो जिन-जिनका मैंने सुना, वे एक ढंग की आवाज निकालकर गाने वाले थे। एक प्रकार की आवाज आप निकालेंगे तो दूसरा भाव कैसे व्यक्त करेंगे? ठीक बात है न? कोई टीका टिप्पणी की बात नही है मैं व्याख्या भर कर रहा हू। अब जैसे कृष्णराव शंकर पंडित की आवाज आपने सुनी। वह गाना जरूर होगा, अच्छा संगीत होगा, हम आप बैठकें सुनेंगे। अच्छा लगना न लगना बात अलग है। मगर उसमे क्या रस निष्पत्ति होती है, बतलाइए? उसमे रस की वह बात करेंगे खूब बड़ी-बड़ी, मगर आवाज क्या निकल रही है? अब्दुल करीम खां साहब का जिक्र निकला था, गाना बहुत सुंदर, बहुत ही सुंदर आवाज, मगर रस कहा है? सभी संगीत उनका एक ही रस में होता था। और भी नाम ले सकता हू मैं। किसी का भी गाना सुनने के बाद अपने को मजा आया मगर उसके अलावा? एक प्रकार की आवाज आपकी निकल रही है तो आप एक ही ढंग से कुछ कह सकते हैं भले ही आपकी बहुत इच्छा हो यह व्यक्त करने की, वह व्यक्त करने की। आप उसमे हरकतें खूब करेंगे। तानें लेंगे, लयकारी करेंगे। आवाज को अच्छी तरह से लगाएंगे। आगे निकलेगा नही। फैयाज खां साहब की आवाज वैसी निकलने के बाद आपको कुछ करने की जरूरत नहीं है, आप वैसा ही गाएंगे। यह आवाज का सिद्धांत है। वैसी आवाज निकालने के बाद उसमे वही चीज निकलेगी, दूसरी कुछ निकल नही सकती।—और इसके सिवा भी जब मुझे समझ नही थी तब भी मैं जो राग गाता था, सही गाता

8978

था। बचपन की बात है, लोग आश्चर्य मे रहते थे कि ऐसा कैसा गाता है यह लडका। मैं रिकाड स सुनके भी जो गाता था—रिकार्ड्स भी छोटे बनते थे उस जमाने मे—तो मैं उस १५ सेकेंड नही गाता था, उसकी नकल नही करता था वह मुझे आ जाता था।

तो, अब्दुल करीम खा साहब का गाना लोगो ने सुना। फैयाज खा साहब का भी सुना। और अच्छी तरह से सुना। बहुत महान् था। अभी हम कहें नयी पीढी को कि फैयाज खा साहब का जब अच्छा गाना होता था तो लोग रोने लगते थे। इतनी खराब आवाज म गाना और लोग रोते थे। आज यह उनको झूठ लगेगा। वह भाव व्यक्त करने का सवाल है। उनको मान्यता थी। राग-सगीत म आवाज आखिर म गौण है। वह क्या कहता है, इसका सवाल है। और उसमे उसकी आवाज अच्छी निकले तो बहुत ही सुदर है।

अब्दुल करीम खा साहब और केसरबाई का नाम हो गया। सबका हो गया। उनका रग अलग है, उनका अलग है, यानी सब महान् हैं। और किस्मत से घराने मे पैदा हुए। घराने का जो आधार है वह यानी जैसा ताश का किला होता है व वैसा है। फूक मारने से गिरनेवाला है। इसम प्रगति का कोई कारण नही हो सकता। जिसको कुछ करना नही है वह घराने पर चले। आजकल जो सगीत है, जिसे घराने का सगीत कहते हैं—अभी तो खत्म हो गया, अच्छे लोग थे तब—तो अभी जो गा रह हैं, जो सुदरता व्यक्त कर रहे हैं, उसका जो रूप है वह नही चल सकता। इस बहुत सुदर होना चाहिए। बहुत सुदर। सगीत की सुदरता का, उसके स्वर का और उसकी तरफ देखने का दष्टिकोण। कोई समय ऐसा होगा, आज से पहले, कि बहुत अच्छा सगीत रहा होगा। वास्तुकला मे देखते हैं। इतनी ऊची कला। साहित्य म देखते हैं। तो सगीत नीचे कैसे हो सकता है? सगीत बहुत ही ऊचा होना चाहिए। तो अपन बाजीगरी की चीजो मे अटके हुए हैं मगर हजार साल, पाच सौ साल पहले यह सगीत नही रहा होगा। निश्चित। बहुत सुदर साधक होने चाहिए। सगीत को देखने का उनका दृष्टिकोण भी वैसा ही रहा होगा।

यानी सगीत के स्वणयुग का नास्टेल्जिया आपको प्रभावित करता रहा कि ऐसा था सगीत। और जो शास्त्रीय सगीत है और जो शास्त्रों मे कल्पित सगीत है, उसके बीच मे आपके हिसाब से बहुत अतर है।

बिल्कुल। उसके राग मिलते है न। इतिहास के रूप मे मिलते हैं। जो शास्त्र है उसका उससे पता लग जाता है। बिना व्यावहारिक हुए शास्त्र उसको मान्यता ही नही देता।

आज के सगीत मे बहुत अतर है। वह वैसा सुदर है ही नही। वे सगीत का जो वणन करते हैं—स्वर के बारे म, वसा स्वर कहा लगाते है सगीतकार? स्वर-साधक कौन है? तान साधक बहुत मिलेंगे। एक तरफ कहना कि सगीत स्वर शास्त्र है, वही उसका आधार है, फिर ताल, उसके बाद लय। तो लय यानी क्या? लय को सगीतकार क्या समझ बैठे हैं? क्या मारा मारी करने को, हाथापाई करने को? लय वह चीज है कि आत्मा को नाचना चाहिए। लय ऐसा माध्यम है। लय समझने के बाद उसका गुण समझना जरूरी है। हाथ मे अगर लटठ मिल गया तो किसी को लेके ठोकना है क्या? हाथ मे लटठ मिलने के बाद कही भी कुछ हो ठोको। अरे और कभी काम आएगा।

सगीत मूलत बाजीगरी करने की चीज है ही नही। आनदवृद्धि करने के लिए जो कलाए हैं उनस आनद-वृद्धि की बजाय कुछ और ही होता है। जायका बदलने के लिए आप करें तो बात अलग है। थाडे दिन के लिए। अभी का जो सगीत है उसमे ताने लगा रहे हैं, घिस रहे हैं तानें नेके। तान मे क्या रखा है? स्वर लगाते हैं पहले और चलना होता है तो भागने लगते हैं और गिर जाते हैं।

यह एक तरह से सगीत की जडो की ओर जाने की आपकी उत्सुकता थी—जडो की ओर जाने की नहीं, उन्हें फिर से जीवित करने की—इसका कुछ आभास लोकसगीत के भीतर डूबकर

नही, लोक-सगीत बिलकुल दूसरी चीज है। इसमे कुछ बात अलग चाहिए थी। अलग चाहिए, पर वह कोई हमको मिली थोडे ही। एक चीज को लेने के लिए बराबर कितनी जगह जाना पडता है। एक जगह कोई सुदर चीज दिखती ही नही। उसके बिखरे हुए हिस्से सब जगह गिरे हैं। आदमी का एक रूप कही दिखता ही नही। कही हाथ है कही उगली कटी हुई हैं—उगली बहुत सुदर है, इसमे कोई शक नही, हा। पर कही एक जगह पूण आदमी, सुदर आदमी नही दिखता। यानी ताल है तो गला नही होता है। अरे ताल है तो स्वर क्या नही लगता साले तेरे को! किसी को स्वर लगते है तो उसे ताल ज्ञान नही आता। कोई बदिश बहुत सुदर गाता है, उसको गायकी आती नही। यानी कपडे हैं, दर्जी नही है। और अच्छे कपडे मिल जाए तो डालने पर दूसरा कहेगा कि दूसरे के कपडे डाल कर बैठा है।

तो जब ऐसे उत्तर मुझे सगीत मे मिलने लगे तो मैं हैरान हो गया। इस हैरानी मे से बाहर निकलने मे काफी साल लगे। इससे मैं १९४० मे बाहर निकला। १९४६ के बाद लगा कि अपन जो सगीत को समझ रहे हैं, उसे कुछ सुना सकने हैं। बाद मे उसका रूप, बीमारी के बाद, बाहर आने लगा।

४६ के बाद एक नये विचार के साथ आपने, उसे सभवत नया सगीत न भी कहें, पर एक दूसरे ढग का सगीत

मैं तो उसे नया सगीत कह नही सकता। लोग भले कहें। क्योकि लोग कह सकते हैं, क्योकि वह लोगो का कहना है। मुझे अपन सगीत के बारे मे कुछ कहना नही है। कहना है लोगो को क्योकि उनको समझ है कि नही व सिद्ध करें मैं क्या सिद्ध करू? बराबर है?

उस समय ज्यादातर श्रोता तो ज्यादातर घासू सगीत के पढाए-सिखाए या उसके शिकार श्रोता रहे होंगे। इस नये सगीत के प्रति उनका जो रुख था, उससे आपको अपनी प्रयोगशीलता को और आगे बढाने की प्रेरणा मिली?

नही ऐसा नही। उसमे मैं दढ हू क्योकि मैं समझता हू, दूसरे समझते नही। सगीतकार ही सगीत को नही समझते तो दूसरे का सवाल कहा आता है?

यह साहित्य मे भी है। एक कवि दूसरे कवि की कविताए नहीं समझता।

सच है। क्योकि देखिए एक बढई है। वह लकडी का परपरागत काम करता आ रहा है। लकडी का उसे कुछ ज्ञान नही है। लकडी का ज्ञान होने के बाद वह कुछ और ही होगा। उसकी चीज अलग दिखेगी। हम जब राग दिखते हैं अलग दिखते हैं। पहले जब समझ नही थी और गाते थे, वे राग अब अलग रूप म सामने आए। कोई उनम परिवतन नही है। और मैं सगीत मे इतना क्या परिवतन कर सकता हू! मगर हिम्मत तो जरूर है। अकेला दरिया मे क्या करे! मैं क्या कर सकता हू अकेला, मगर कुछ न कुछ लहर तो पैदा कर सकता हू।

यह जो आपकी हिम्मत और बदलने की इच्छा है, इस पर श्रोताओं की ओर से जो प्रतिक्रिया हुई, जो नया किया गया—आप नहीं, हम कहेंगे नया—वह ऐसा था जिसमे शास्त्रीय सगीत के बहुत ही पारपरिक साचों मे ढले श्रोताओ ने भी एक ताजगी महसूस की।

साहित्य मे भी एक भाषा जो होती है न। पहले की भाषा, बाद की भाषा अभी की भाषा। क्या अथ है? मेरे सगीत की भाषा अलग हो जाती है। मैं भूप वही गाता हू, मगर भूप गाते समय मुझे जो सुदरता दिख रही है औरो को नही दिख रही। जितना सुदर है वह—और बहुत सुदर है वह यानी चारो तरफ से सुदर है—तो चारा तरफ सुदरता व्यक्त करने के लिए अलग ही कुछ

चाहिए। खाली एक ढग का चलेगा नही। भूप को नये ढग से पेश करना है तो भाषा ही बदलेगी, भूप नही बदलेगा। वह घटना नही बदलेगी। रागो को रूप कहा है, जैसा आपका रूप है वैसा राग का। वह तो दिखना चाहिए पहले। राग कपडे-वपडे नही पहनते। वे सब नगे हैं। बाद मे, जब रचना हो जाती है, जब ताल मे आते है वे अलग-अलग कपडे पहनकर आ जाते हैं। मगर शुद्ध रागरूप आपको मालूम नही क्या ? बदिश के याद आए बिना राग तो आता नही है सगीतकार को। बिना बदिश के, बिना ताल के राग को गाकर सुनाए। खाली राग को। कोई बदिश नही, ताल नही। भाग जाएगे सब।

शास्त्रीय सगीत की दुनिया प्राय लोकसगीत से दूर या ऊपर रही है। लेकिन आपका लोकसगीत से उतना ही गहरा रिश्ता है जितना शास्त्रीय सगीत से। बल्कि मालवी लोकधुनों का एक समूचा कार्य-क्रम भी आपने तयार किया है जो कि शास्त्रीय सगीत के इतिहास मे एक नयी बात है। आपके गाये कबीर, मीरा आदि के पदों मे शास्त्रीय रागो के साथ लोकसगीत का स्पश भी जगह-जगह मिलता है। क्या आप शास्त्रीय गायन मे लोकसगीत का उपयोग रचना को एक पूणता देने के लिए करते हैं ? अगर ऐसा है तो शास्त्रीय सगीत मे आपको क्या कोई अधूरापन लगा ?

जो परिपूण सगीत है यानी राग सगीत, उसे हम और क्या परिपूण कर सकते हैं ? उसकी खोज कर सकते हैं। और वह मुझे दिखा लोक-सगीत मे। हम उसमे भर डाल सकते हैं। उसमे जो भराव हैं—चाहिए, बहुत चाहिए। किसी ने किया नही है। मैंने पहले भी कहा है, राग बनाये नही जाते, राग बनते हैं। बनाये जाने वाले राग अलग हैं। वे जो पुराने राग रूप हैं, वैसे रूप बनाने के लिए आदमी का प्रयत्न—सिफ समझ हो सकती है, वे बनाये नही जा सकते हैं। पुराने जितने राग हैं, बहुत कम हैं, यानी रागो के नाम बहुत होगे, मगर शुद्ध रूप उनका जो है, ऐसे राग बहुत कम हैं। इसलिए मुझे सगीत के तल मे जाने की इच्छा हुई। लोक सगीत मे जाने का उद्देश्य यही था। मेरी धारणा ही है कि लोकधुनो पर ही राग-सगीत का आधार है। दस-बारह जो राग हैं उससे बने हैं।

यह सभी कहते रहे हैं कि शास्त्रीय सगीत लोकधुनों से उपजा है। सभवत वह कसे होता है, यह कीमिया आपने कर दिखाया है।

कीमिया कैसा ? उसका मूल क्या है वह मुझे समझ मे आ गया। कुछ पहले से बीज गिरे हुए थे। गुरुजी वाले। बबई मे जब मैं सीखता था तो गलती से

गुरुजी एक किताब लाए थे होली के गीतो की। उसम स उन्होने एक प्रोग्राम दे मारा रेडियो पर। लोकगीत ऐसे रहते हैं, यह शुरू म ही थोडा याद था। जब इधर आए तो सपक म श्याम परमार आए, थे आए वो आए। पढ़ना भी काफी हुआ। तब स धुन एकत्रित करने की बात आ गई। यँम लारधुन जिस कहते हैं, और मैंने भी वे पेश की हैं, यह एक अलग स्थल है। और राग की गुण रीति की दुनिया ही अलग है। उसम समरूपता लाने के लिए मैं लोकधुना के पीछे पडा। मालवी लोकधुना का प्रोग्राम बिलकुल अलग है। उसकी इगम बात नही। लोकधुनें भी कैसे सुदर ढग स गा सकते हैं, उसके रूप को न बिगाडते हुए, यह अलग एक सगीत निर्माण कर सकती है यह कहना है कुमार गधव का। अपने भारत म राग-सगीत न जन्मा होता तो सगीत खतम हो जाता क्या ? दूसरे देशो म कहा है राग-सगीत ? सगीत है जरूर। यह आपकी भारत भूमि का वैशिष्ट्य है कि ऐसा सगीत कही दुनिया म नहीं है। आधुनिक वास्तुशिल्प तक पहुचता है आपका राग-सगीत। पहले म सारी चीजें तैयार हैं और उनस आपको नयी दुनिया का निर्माण करना है। राग-सगीत गाने वाले को क्या करना है ? भूप तैयार है तीन ताल तैयार है। उनम स निर्माण करना है। उसकी चुनौती है यह। तो, यह तो घिसा पिटी करना है रगड के वही-वही गाता है। उसम वह कलाकार नही होना चाहता, मजदूर होना चाहता है।

> कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, तुकाराम, मछिंदरनाथ जसे अनेक भक्ति-कवियों की रचनाओं से कुछ अद्भुत चयन आपने किए हैं, जिनका सगीतात्मक ही नहीं साहित्यिक महत्व भी है। खास तौर से आपके गाए कबीर के पदों मे से ज्यादातर कबीर के उपलब्ध सकलनों मे नहीं मिलते। इस तरह से यह कबीर का अन्वेषण भी है। गायन के लिए रचनाओं का चुनाव या खोज आप किस दृष्टि से करते हैं ?

सतवाणी के बहुत स ग्रथ सब लोगा के हाथ लगे नही, कुमार गधव के हाथ लगे। एक बात। बहुत-सी किताबें छपती हैं, किसी के हाथ नहीं भी लगती हैं। बराबर है न ? और लोग भी प्रेम के मारे जहा कोई ग्रथ हाथ लगा, कुमार को दे देते हैं। एक जमाने मे कही किसी ने छाप दिया और खतम हो गया। पहले देवास मे नाथ-सप्रदाय का काफी बोलबाला था। श्रीनाथ महाराज के समय मे यहा नाथ सप्रदाय के लोग, बडे-बडे साधु लोग आते थे। वे सब मौखिक गाने वाले थे। कनफटे लोग। श्रीनाथ महाराज ने उन गीतो को छपाया। उसम गोरख-मछिंदर का भी मिलेगा। एक भक्त ने आकर मुझे यह

किताब दी। उसमे उस छद मे ही सब चीजें छपी हुई है। निर्गुणी भजन गाने का जो तरीका है, वह बिल्कुल अलग है। खासकर के नाथ सप्रदाय के जो लोग हैं, जिनका बस्ती से बहुत कम सबध रहता है, उसकी दुनिया बिल्कुल अलग है। जीवन अलग, रहना अलग। पेट के लिए घूमने वालो को छोड दीजिए, पर जो सचमुच वे है उनका सब प्रकार का जीवन, जीवन पर उनका विश्वास। तो उसमे से जो निकले हुए स्वर है उनका मेरा अभ्यास है। मैं जिस बगले मे पहले रहता था, उसमे मैं एक दिन बरामदे मे आके बैठा। तो एक भीख मागने के लिए आदमी आया। 'सुनता है गुरु ज्ञानी' गा रहा था। मैं जब आया बाहर, अतरा मे कुछ गा रहा था। उनको तो भीख मिलने तक गाना चाहिए। ऐसा नही कि बहुत अच्छा गा रहा था। तो मैंने विचार किया कि यह निगुणी स्वर है इसका अपन जरूर अभ्यास करेंगे। दूसरे दिन मैंने 'सुनता है गुरु ज्ञानी' कपोज किया। निर्गुण मे शू्य (वैक्यूम) निर्माण करने की जो अच्छाई है, अद्भुत है। वह फक्कडपन की है कि फेंकें तो, मगर लगना नही चाहिए। कोई भी चीज फेंकें, कितनी ही तेज चीज हो, फेंकने पर उसको लगनी नही चाहिए। उसको मजा आना चाहिए कि अच्छा मारा यार इसने। निर्गुण मे यह व्यक्त करने का आवाज निकालने का जो तरीका है वह उनके जीवन मे स्वाभाविक था। वसी प्रकृति आए बिना आप वैसी आवाज नही निकाल सकते। उनके जैसे विचार वैसे ही स्वर आएगे। 'मैं जागू म्हारा सतगुरु जागे आलम सारा सोवे'—यह उनकी दुनिया है। वे जब गाते है तो उस वक्त कौन रहता है ? कोई नही रहना। ऐसे मे स्वर जो निकलेंगे वे ड्राइग रूम मे निकाले गए स्वर नही होगे। बराबर है न ? निर्गुण मे एकात की चीज व्यक्त होनी चाहिए।

चुनाव मे सच वह, कबीर हो चाहे मीरा हो—अभी हम समझ गए ये बात अलग है। पर उसको सुदर रूप देने के लिए चुनना आसान नही है। कभी एकाध दिन मे वह चीज कह देती है कि मैं ऐसी हू। भजनो मे से जब मुझे कुछ कपोज करना होता है तो मैं उस कवित्त को खाली देखता नही। देखता हू छोड देता हू, देखता हू छोड दता हू। पहले मैं उसकी भावभूमि समझ लेता हू कि वह क्या कहना चाह रहा है और उस व्यक्ति की क्या परिस्थिति थी। मैं होता तो कैसा कहता। तो, पूरा जो उसने कहा है, कहके देखता हू नही वो चीज नही है। उससे भी ऊची कोई चीज कह सकते हैं स्वर के माध्यम से तब तो उसका कुछ मतलब है।

किसी विशिष्ट पद का चयन लय पर भी निमर है। जैसे ही वह गीत चनकर सामने आया—उसम स्वर-व्यजन कैसे गिरे हैं और वह क्या कह रहा है और अपने कहने मे, लय के माध्यम मे वह कैसा उभरेगा। अच्छे स्वर म गाना एक बात है, उसे व्यक्त करना बिल्कुल दूसरी बात है। एक भजन है

'माया महा ठगिनी हम जानी'। इसी के ढग का वह 'रमैया की दुलहन ने लूटा बाजार'। कबीर के ये दो भजन एक ही विचार व्यक्त करने वाले भजन हैं। छदो का फेर है। तो मैंने 'माया महा ठगिनी' ले लिया। जो कहना है वह इसमे सगीत की दृष्टि म ज्यादा अच्छा कहा है। मगर साल दो साल हो गए, पडा रहा। जमता नही था। दो-ढाई साल के बाद वह सुदर बना।

और रागा की जो सरचना है वह तो अलग ही ससार है। उसमे एक ही समय सब व्यक्त होता है। पहले कविता नही होती। ताल, राग और शब्द—एक साथ ही आते हैं। ऐसा नही कि पहले पक्ति बन गई, फिर उसे राग मे बैठाया। वह बदिश नही होगी। एकाध अक्षर फक की बात अलग है। लय भी *एक ही समय व्यक्त होती है।*

> **रचनाआ को रागबद्ध करने की अपनी प्रक्रिया के बारे मे भी कुछ बतलाइए। आप रचना के कथ्य और सवेदना के अनुकूल राग का चुनाव करते हैं या फिर कोई और तरीका है ? जसे 'सिर पे धरी गग' शकरा मे है। वह शकरा मे ही क्यों है ?**

मैंने पहले कहा था कि राग रूप जो हैं उनके माध्यम से कुछ भी कह सकते है। वह पूण रूप है। बागेश्री एक भाव लेकर जो कुछ कहेगा वह अपने ढग से कहेगा उसकी भाषा अलग है। और मालकौंस जो कहेगा—भाव वही है—अपनी भाषा मे कहेगा। तो वह किस भाषा मे अच्छा लगता है, किस स्वर मे अच्छा लगता है यही चयन का सवाल है।

शकरा राग मे है और दूसरे रागो म भी शकर का वणन है। शकरा मे बदिशें बहुत कम है अत उसमे पहले *बनाया। भोपाली मे यह आता तो अलग* ढग से आता। ये पक्तिया नही आतीं। शकरा जब आया तो राग, लय और शब्द सब एक ही साथ आए। चिपकाये हुए नही हैं। बदिश म तीनो का ज म एक ही साथ होता है। खाली कविता को किसी राग मे बैठाने से वह बदिश नही होती। ऐसा नही कि पहले महीने पक्ति तैयार हो गई और अगले महीने शकरा को ठोक दिया। वह एक ही क्रिया है। राग सगीत म बदिश करके जो चीज है, बहुत मुश्किल है। कोई कहके बता नही सकता। उदाहरणाथ कहू कि, मालवती राग है कुमार गधव का। उसम सिफ दो रचनाए बनाई है। एक विलबित और एक द्रुत 'चला जा चला जा रे बदरा' करके और दूसरी मगल दिन आज बना घर आयो। ये जो बदिश हैं जिसने राग निर्मित किया उसने बनाई हैं। इसके बाद कोई दूसरा गाएगा तो वह उदार के ऊपर उदार रखके नया खयाल गाएगा। उसका साहित्य बदलेगा, स्वरो का जो ढाचा है वह बदलना बहुत मुश्किल है। यह बात मैं इसलिए कह रहा हू कि यह हजार पाच

सौ साल से चली आ रही है। कोई सगीतकार रागो मे भी नयी बदिश नही बाध सके, रद्दी बदिशें ही गाते रहे। किसी कविता को राग म ढालकर सगीत-कारो ने गाया है, क्योकि आखिरकार काम तो चलना ही चाहिए। कुछ नही तो सुर की लाइन लेके गाओ यार दरबारी म—क्या बिगडता है राग तो है कम-से-कम। दरबारी कहते हैं बडा गभीर, बडा गभीर राग है, पर उसकी जितनी भी बदिशें हैं शृगार रस की हैं। किसी ने नही सोचा कि गभीर राग है तो उसका विषय भी गभीर बनाए। 'मघवा भरन लगो' दुनिया गाती आ रही है। मैं बोलता हू कि आओ हम नचाते हैं तुमको दरबारी गाके। हम नचाते हैं। तुम मुह गिराके बैठोगे तो इससे होता है क्या ? मैंने बदिश के माध्यम से इस विचारो का खडन करने की कोशिश की है।

शास्त्रीय सगीत मे बोलों को इसलिए महत्त्व नहीं दिया जाता रहा है कि सुनने की चीज स्वर है, शब्द नहीं। आपने जिस तरह की रचनाए गाई हैं उनमे और उनके गायन के ढग मे यह आग्रह लगता है कि उनके शब्दों का जो सदेश है वह भी सुना जाए। ऐसी स्थिति मे आप सगीत के स्वाभाविक अमूत्तन और शब्दो की मूत्तता के बीच कसे तादात्म्य बिठाते हैं ? राग के स्वरों और भाषा के बीच जो तनाव उपस्थित होता होगा उसे किस प्रकार सुलझाते हैं ?

वह कहने का एक ढग हो गया है, बचपन म आने का कि सगीत मे जो बदिश है, जो अथ है, उसका कोई मतलब नही। तो फिर बदिश क्यो गाते हैं ? और यह बोलने वाले जितने सगीतकार हैं, वे जो गाते है, उसे बिना समझे गानवाले लोग हैं। और ऐसे लोगा का यह भागने का एक रास्ता है। तुम्हारी बदिश म जो अथ है, उसे तुम जानते नही तो तुम व्यक्त क्या करोगे ? मैं अक्षर को कम नही समझता। भाषा के स्वर व्यजन का अगर सगीतकार उपयोग नही करता तो उसका सगीत बहुत ऊचा नही जा सकता। सगीत अमूत्त है तो अमूत्त का साधन करने मे मुझे कोई हज नही। पर वह उनका भागने का रास्ता है।

मतलब यह था कि जसे बदिश है, उसमे अक्सर कोई चित्र, कोई दृश्य भी हो सकता है। और सगीत जो अपने स्वरो से चित्र बनाता है वह अमूत्त है। इनके बीच कहीं-न-कहीं कोई तनाव महसूस होता होगा ?

सगीत अमूत्त है, इस पर विवाद का सवाल नही। हा, उसको अपन ने थोडा मूत्त कर दिया तो सगीत आसान हो जाता है। मेरे लखे तो तनाव उसमे है ही नही। बिलकुल तनाव नही है। वह कौन सी बदिश है—लाचारी तोडी की—

बहुत पुरानी बदिश है 'ए लगर तुरक बटमार वरजोरी गरवा मइया लगाय लेत'। और अतरा है 'इत गरजे उत एक न माने, कासे कहू री दैया, कैसे घर जाऊ रगीले समझाय रह'। ये इसके अक्षर हैं। तो उस वक्त जो मुस्लिम लोग हिंदू स्त्रियो से छेडछाडी करते थे उस घटना का यह कवित्त है। यह कम से-कम डेढ सौ साल पुरानी बदिश है। उस समय का कहने का सौंदय और उस समय के गायक की सुदरता की जो कल्पना थी वह इसमे है। इसम जो दो-दो धैवत, दो दो निपाद, दो-दो रिपभ जो दो दो स्वर लगाए हैं उन्होने कितना सुदर मोड दिया है इसके अक्षरो को। अब वह घटना, वह हो गई होती। उससे अपने को लेना-देना नही है, पर वह क्या तस्वीर है उसके आनद का सवाल है। कैसे उसका राग के माध्यम म मूड आता है। इसमे जो चित्रण है उसको कैसा पकड रहा है, कैसी तस्वीर है उसे हम देखेंगे। उसका मायना, उसकी घटना मालूम न हो तो उसे फेंकेंगे कैसे ? मैं अक्षर को ब्रह्म मानता हू — ब्रह्म स्वरूप। उसको मैं सौ टका न्याय देने के लिए तैयार हू। पर राग-सगीत कहते ही वह जो कहेगा उसकी भाषा ही अलग है। अक्षर अलग नही है। मुझे बराबर मालूम है तुम अलग नही हो, पर तुम ज्यादा बडबड मत करना। तुम्हें जो कहना है, खाली इशारा बस। और बाकी मैं कर लूगा। राग-सगीत म घटना चाहिए और थोडे अक्षर हो और ज्यादा न कहे, क्याकि कहने का अधिकार राग को है, अक्षर को नही। यहा शास्त्रीय सगीत अलग हो जाता। अब इस पुरानी बदिश को मायने समझकर कपोज नही किया गया क्या ? पुरानी है यह मेरी रचना थोडे है। कितना मुश्किल है।

गाते हुए प्राय आप एकाएक रुककर स्वरो के बीच एक अतराल देते हैं। इससे पूरी सगीत-सरचना मे एक खास तरह का सौंदय उपजता है जसे चित्रकला मे स्पेस दी जाती है। आपके गायन मे यह अतराल और मौन क्या जतलाते हैं ?

वह अलग है, यह अलग है। गाते समय यह जो पदा होता है इसके दो कारण है। तानपुरे और तबला मेरे मिले हुए रहते है। इनका जितना उपयोग मैं करता हू उस प्रकार से अभी तक नही किया गया है। मैं इनको खाली ड्रोन समझता नही। ये जो दो तानपुरे हैं, मैं इन पर स्वर के साथ पेंटिंग करना चाहता हू। यह मेरा कैनवस है। मैंने पहले भी कहा है यह। मुझे जिस रग का कैनवस चाहिए वह रग मेरे लिए तयार हो जाता है पीछे तानपुरे पर। तो क्या होता है बहुत बार गाते समय कि मेरे साथ तानपुरे गाते रहते हैं। मैं ऐसे कोण पर स्वरो को छोड देता हू कि मुझे कुछ करना नही पडता, वे स्वत स्फूत तरीके से उसमे विलीन हो जाते हैं। यानी एसे मौके पर स्वरो को

छाडना चाहिए कि उस ढग से छोडते ही उसमे जो चीज थी वह तानपुरे म निकलने लगती है। जिसे आप स्पेस कह रहे हैं वह ऐसे ही निर्मित होती है और बार-बार आके इसी तरह मिलती है। यानी जैसे बूद गिरती है न, एक बूद गिरते ही दूसरी बूद तैयार रहती है उसके पीछे। यानी कोई पचम पर आया तो वह चीज पचम पर खत्म नही होगी, वह गधार या निषाद पर खत्म होगी, या फिर मध्यम पर ही खत्म होगी, क्योकि आगे जो पक्ति कही जाने वाली है, वह मध्यम से आने वाली है। जैसे एक अक्षर का उच्चारण करते समय उसमें अगले अक्षर का भी उच्चारण रहता है। एक के बाद दूसरे शब्द का उच्चारण करते हो, ऐसा नही होता। उसमें लय बनी रहनी चाहिए कि छोडने के बाद उधर से लेने पर तकलीफ भी नही होती। कुमार को लोग कहते हैं कि ऐसे कैसे जगह आती है। तो पहले से छोडा है, इसलिए आती है। स्वर छोडते समय उसका मुह ऊपर है कि नीचे है कि वही है। उसने नीचे देखा तो उसका अपना अमर हो जाता है। किसी स्वर को लगाते ही उसके कितने ही रूप सामने आ जाते हैं। राग-सगीत में यह बडे महत्त्व का है। यह परपरागत चलता है और गायब होता रहता है। कोई रहने वाली कला नही है यह। आपके नये माध्यम, कुछ रिकार्डिंग वगैरा थोडे दिन रहेंगे। सगीत कला ही रहने के लिए नही है। उसका गुण है कि रहे नही। रहने की चीज तो साहित्य है।

आपके गायन मे सवेदना के अनेक स्तर हैं, उसी तरह जसे आप मे अनेक परपराओ के अतर्सूत्र हैं और उनके मेल से एक कोई और ही चीज बनी है। वह भावात्मक रूप ममस्पर्शी भी है और बौद्धिक स्तर पर विचलित करने वाला भी। उसमे एक गहरा रूमान भी है, आध्यात्मिक आवेग भी है और लोकतत्त्व की सहजता भी। यह सब एक साथ कसे सभव हुआ ?

एक दफे ऐसा हुआ कि हमारे यहा अण्णा साहब फडके हैं न, थे। शुरू मे काफी परिचित थे। प्रेम था हमारा। पत्र व्यवहार भी होने लगा कुछ। मैं बीमार था। बात करने का विषय था उनका सगीत और तबला। मूर्तिकला चित्र-कला पर वह बात नही करते थे। खुद तबला बजाते भी थे। तो जब चित्र-कला की, मूर्तिशिल्प की बात आती थी, उनके जो विचार थे उन्हे वह सगीत पर लागू करने के लिए तैयार नही थे। मैंने पूछा कि ऐसा क्यो, तो बोले कि चित्रकला मे नकल करना मना है और सगीत मे नकल करना अच्छा है। मैंने कहा कि यह अच्छा धधा है कि सगीत को नीचे गिरा रहे हैं आप। यानी यहा आपको घराना चाहिए। हमको मालूम है कि सब लोग नकल करते हैं, पर जो अतिशय परिवतनशील कला है, उसको आप नीचे रखना चाह रहे हैं और

अपनी कला मे आप नकल करना उचित नही समझते। तो आपके विचार से क्या हो गया कि सगीत कोई कला नही है। यह तो मेहनत की चीज हो गई और चित्र और मूर्तिकलाए कला हो गइ। अण्णा साहब गडबडा गए एकदम। कुछ बोले नही। मैं सगीत का कला समझ के बैठा हू, खाली साधना और अय्याशी नही। नही तो मैं भजन गाने वाला हो जाता।

कला का पेट बहुत बडा है। सब कुछ चाहिए उसको। सब उसको व्यक्त करना आना है। गणपति का पेट है न वह। यानी सेर नही चलता, सवा सर चाहिए उसको। ऊपर जब क्षुधा गुजर जाती है, किलो डालना पडता है और ऊपर मे भी कुछ। अभी भी रिवाज है—महगी हो तो भी।

कबीर को गाते हुए आप एक प्रखर बल्कि एक भयानक अकेलेपन की सृष्टि करते हैं और साथ ही उसमे ऐसा भी आभास होता है जसे किसी आदिम समुदाय का दनिक गायन हो रहा हो। 'त्रिवेणी' मे कबीर के एक पद 'युगन युगन हम योगी' की पक्ति 'हम ही बहुरि अकेला' शायद इस एहसास को सबसे अधिक व्यक्त करती है। कबीर गायन मे आपकी सगीत-कल्पना जितनी ऊची, विस्तृत और गहन हो पाती है उतनी शायद दूसरी रचनाओ को गाते हुए नहीं। इस पर कुछ प्रकाश डालें। अकेलेपन और सामुदायिकता के द्वद्व पर कुछ कहें।

पहले अपन जो बात कर रहे थे वीरानियत पैदा होने की, वह कबीर मे अक्सर दिखती है। निगुण मे यही खासियत है व्यक्त करने की। मीरा मे वह बात नही है उसका स्तर अलग है। और उच्चारण के साथ ही वह चीज दिखनी चाहिए यह मेरी हमेशा कोशिश रहती है। स्वर और लय को उसके अथ और भाव के साथ व्यक्त होना चाहिए। वैसे ही वह लय म गिरना चाहिए। उसमे वे अक्षर कैसे आ रहे हैं कैसे करवट ले के जा रहे हैं। अक्षर पढने के बाद समझ मे आ जाता है मगर गाते समय वह चीज वैसी है, ऐसा लगना चाहिए। और निगुण गाते समय अकेलेपन का निमाण नही हुआ तो निगुण है ही नही वह।

अकेलेपन का निर्माण आप करते हैं, लेकिन एक समुदाय के सामने करते हैं जबकि निर्गुण गायक की स्वाभाविक स्थिति तो यह है कि वह जहां गाता है वहा कोई नहीं होता। उसके लिए भौतिक रूप से भी एकात है, आपके लिए नहीं है। यानी श्रोताओं का एक समुदाय बठा है, उसके सामने आप गा रहे हैं। दूसरे यह कि सुनते

हुए कई बार लगता है जसे कई लोग गा रहे हो। तो एक तरफ अकेलापन बनाना, समुदाय के सामने बनाना और गायन मे भी ऐसा आभास हो जसे अनेक लोग गा रहे हैं।

अक्षरो का उच्चारण करते समय अपन किस भाव से करते है, इस पर सब निर्भर है। 'निरभय निरगुण' कहते समय आप 'भ' कैसा कहते हो। निर्गुण कैसे मुह मे निकलता है, किस स्वर को ले के, किस लय मे निकलता है, तभी होगा। नहा तो उसे इतना ऊचा काहे को रखता मैं? कबीर चिल्ला के कह रहा है गाने मे कि 'निरभय निरगुण गुन रे गाऊगा'। वह किसी के सामने डर नहीं रहा है। खडा है बैठा नहीं है। तो यह व्यक्त करने और महसूस कराने के लिए पहले निर्भय का उच्चार आना चाहिए। यह कहते समय वही भाव चाहिए। 'युगन-युगन हम योगी' मे भी वही बात है।

आपने उसमे कहा है कि 'हम ही बहुरि अकेला'। गायन एक तरफ साथ होना भी है और अकेला होना भी। तो कबीर गायन की यह जो विशेषता है, वह दूसरे गायन के लिए आवश्यक भी न होगी।

नहीं। वह चीज ही, रग ही अलग है। कबीर का स्तर ही अलग है। दूसरा के जो भजन हैं, वे वह भी अलग रहे हैं और कहने का उनका स्तर भी अलग है। अदर-बाहर कुछ है ही नहीं कबीर मे। डर काहे का! और यह जो 'युगन-युगन हम योगी' है, यह तो खुद आत्मा ही बोल रही है, शरीर कुछ बोल ही नहीं रहा इसम। कबीर की पक्ति छोड दीजिए आप, आप कबीर को निकाल दीजिए। अब, 'अवधूता युगन-युगन हम योगी'। यह कौन कह रहा है? किसी की, आदमी की हिम्मत नहीं है यह कहने की। वह खुद आत्मा बोल रही है। अपनी विनयपत्रिका खुद लिख रही है वह। कह रही है कि मैं क्या हू।

कबीर की वाणी मे यह जो चुनौती है, समूचे ससार और ब्रह्म के प्रति भी, जो रचनात्मक कलाकार का जबदस्त साहस है, वह आप को आदश लगता है या आकर्षित करता है, इसीलिए कबीर को इतना अच्छा गाते हैं।

शुरू मे जब निगुण भजन गाया मैंने महाराष्ट्र मे, तो लगा कि लोग समझेंगे कि नहीं। और किसी किसी को बहुत तकलीफ हो गई उसस। निर्गुण भजन सुनके। मित्रो ने कहा कि भैया ये क्या लाया तुम भिखारी लोगा का भजन। ठीक है। और अभी वही लोग, अब समझ में आ गया उनको। क्योकि इस प्रकार के भजन, इस प्रकार के स्वर उन्होने सुने ही नहीं। सुनने के आदी नहीं। मीरा का उनको समझ मे आता है, पर कबीर तो महाराष्ट्र के लोग अभी-अभी सुनने

लगे है। 'त्रिवेणी' मे कबीर के तीन चार भजन है, उसमे 'कौन ठगवा नगरिया लूटल' भी है। उसे मैंने कैसे कपोज किया है, देखिए। यह दूसरे भजनो की तरह नही है, अलग है, क्योकि उसका जो कहने का स्तर है वह एकदम अलग है। निगुण हो के भी। कबीर तो जीव ही अलग है।

त्रिवेणी तो आपका प्रसिद्ध सगीत-सयोजन है ही। कबीर, सूर, मीरा के और भी सुदर पद आपने गाए हैं—जसे 'नया मोरी नीके नीके चालन लागी' या 'हिरना समझ-बूझ बन चरना' जो कि 'त्रिवेणी मे नहीं है। इसी तरह, तुलसी के पदो को गाने मे भी आपने एक निजी क्रम दिया है। 'मानस' के बालकाड, 'गीतावली' और 'विनयपत्रिका' से किया गया चयन कथाक्रम के अनुरूप नहीं है। इस सयोजन के पीछे क्या दृष्टि रही है ? 'त्रिवेणी' से बाहर के पदो मे क्या कोई भिन्न किस्म का सगीत-अनुभव है ?

'त्रिवेणी' का रिकाड अलग है, और त्रिवेणी का जो कायक्रम पूरा है, उसमे सूर, मीरा और कबीर तीना के चार चार भजन हमने चुने। रिकाड मे तो सब जा नही सकते। तो, कबीर के चार भजनो मे कबीर क्या है, वह कहने की कोशिश की है। मीरा और सूर के भी चार चार लिए। सुनते समय आपको तो ऐसा लगता होगा कि ये अलग हैं और वो अलग है यानी कबीर का नाम निकाल देने के बाद भी वह अलग हो सकता है। बस मीरा का भी वैसे सूर का भी। सूर तो गायक था। पूरा गायक था। तो त्रिवेणी मे आप सूर की जितनी बदिशें सुनेंगे गाने के ढग से गायकी से सुनेंगे। जैसे 'उठि उठि सखि सब मगल गाई'—गौड मल्हार का यह प्रस्तुतीकरण बिल्कुल गायकी है, खाली कविता नही। या वह जो बिहागडा का है—नैन घट घट' या 'अहो पति सो उपाय कछु कीजें'। गायकी, गाने वाला दिखता है। यह चीज दिखाने के लिए मैंने 'त्रिवेणी' की रचना की। तो, आप तुलसीदास जी का पूछ रहे थे न। तुलसीदास को क्रमबद्ध रखने का विचार नही था, क्याकि सब लोगो को किस्सा मालूम है अपन क्या क्रमबद्ध रखें। मुझे सिफ 'मानस' नही, तुलसीदास व्यक्त करना था। 'मानस' मे जो तुलसीदास दिखते हैं वह अलग कपडे डाले हुए हैं। निश्चित। और 'गीतावली मे जो तुलसीदास दिखते है, वह अलग—यानी विषय तो राम हैं, ठीक है। और विनयपत्रिका' मे जो तुलसीदास जो हैं वह बहुत ही अलग हैं। उनका साम्य नही। वह 'मानस लिखने वाले तुलसीदास नही हैं। उसमे जो परिपक्वता तुलसीदास की दिखती है, रामायण मे नही है। रामायण बहुत लोगा ने लिखी। पर जब वह विनयपत्रिका' लिखने बैठे तो वह तुलसीदास बैठे हैं। मुझे रामायण नही कहनी थी, तुलसीदास कहना था। इसलिए

मैंने चार चौपाई सिर्फ ली और वह भी बीच मे से। 'गीतावली' मे के जो खास गाने जैसे हैं और जिनमे वह अलग दिखते हैं, वे लिए। 'विनयपत्रिका' से चार चुने। तुलसीदास को मैंने १९४६ मे पढा। रामायण बाद मे पढी, 'विनय पत्रिका पहले। और यह आज भी बहुत जटिल आदमी है। इसको कपोज करना आसान नही है क्योंकि सगीत भाव उसमे बहुत कम है, देखा जाए तो। अभी पुणे मे 'केसरी' का चार दिन का फक्शन था। मित्रो ने इच्छा व्यक्त की कि तुलसीदास सुनाइए। मैंने कहा, नही सुनाऊगा। क्यो ? तुम लोगो को समझ मे आएगा नही। मित्रो के सामने सुनाना बात अलग है। मैं गाऊगा, लोग सुनेंगे और जाएगे, कोई मतलब नही। विचार ले के सुनाना पडता है। गा दिया, ऐसा थोडे ही है। समझदार और साहित्यिक हैं, उनको बहुत सुदर लगा था वह।

सत लोग रागो का मीटर करके उपयोग करते थे। आप तुलसीदास, सूर के जो गीत हैं, लाइए। जो राग उन पर लिखा होगा उसी राग मे मैं आपको सुनाऊगा—बिना राग बिगाडे। उन्होने उसी राग म गाया है वह लिखते समय।

> हम लोग यह मानते रहे हैं कि कबीर खुद गाते हो तो मालूम नहीं—लेकिन कबीर का सबसे प्रातिनिधिक प्रामाणिक गायन कभी हुआ है तो आप ही ने किया है, इसमे कोई सदेह नहीं।

बरोबर।

> शुरू मे आपने कहा था कि एक तो जैसा हो रहा है वैसा करते जाना। शास्त्रीय सगीत मे मुश्किल यह है कि गाना उस कला का एक तरह का सरक्षण भी है क्योंकि यही एक तरीका है। उसका और कोई म्यूजियम नहीं है—सिवाय इसके कि गायक उसको गाते रहें। दूसरी तरफ रचनात्मकता का सवाल है। आपके विचार से वह क्या है ? अभी आपने यह कहा था कि सगीत तो गायब हो जाने वाली कला है। इसे कुछ और स्पष्ट करें।

सगीत मे एक बहुत अच्छा गुण है कि पहले के सगीतकार जो कुछ गा गए हैं, कुछ रहा नही। रहता ही नही। यह उसका धर्म है। तो भी सगीत ही एक ऐसी कला है कि उसकी शृखला टूटती नही। शुरू मे आदमी का जो रूप आ गया, तब मे आज तक आदमी की शृखला है। यानी चद्रमा म कोई आदमी जा के उतरा तो आनद अपने को होगा—यानी एक आदमी उतरा, मैं उतरा। चद्रमा मे जाके एक आदमी ने पाव रोपे तो जो आनद भूमि का मिला, उसका वर्णन हम कर नही सकते। हम ऐसा लगा कि हम चद्रमा मे उतरे। आदमी

उतरा—मैं का सवाल नही है। मैं तो निकाल दीजिए, मैं वडा गदा शब्द है। सगीत का शास्त्र रहेगा, क्योकि उस निचोड लेकर आगे जाना है। सगीत सब लेके बैठने लगा तो अटल हो जाएगा न ? उस जमाने के साथ जाना है और सार लेके जाना है। हम डेढ हजार साल पहले के स्वर मालूम हैं, पर हम वैसा गा थोडे ही सकते है—डेढ हजार साल पहले जसा। बहुत से सगीतकार ऐसे हैं कि उन्हे नोटस मालूम ही नही होगे।

सगीत तो सुरक्षित हो ही नही सकता। बाधकर रखने की कितनी भी कोशिश करिए आपकी अगली पीढी के लिए उसका उपयोग होगा, पर वह गुण उसमे नही है। आज के जो माध्यम हैं वे सब बनावट हैं। सिर्फ साहित्य छोड के। अक्षर छोड के। तो आगे देना है लोगो को समझ देनी है तो सिर्फ अक्षर-ज्ञान है। इसलिए मैं अक्षर को ब्रह्म कहता हू। हम जो गाते है वह अभी आप-को पसद आएगा, पर वह रह नही सकता। सौ साल के बाद कुमार गधर्व को गाली देंगे कि क्या गाना था। यह तारीफ है सगीत की। सगीत जीवन के साथ चलता है। आपका साहित्य वहा चलता है जीवन के साथ ?

सगीत जीवन के साथ कसे चलता है ? यह आप कसे कहते हैं ?

ऐसा है कि अक्षर स क्या होता है। यानी साहित्य। मुझे पूरा विश्वास है जिस देश का सगीत होता है प्रात का सगीत होता है, वहा की जो भाषा होती है जो अक्षर होते हैं, वहा से उसकी शुरुआत होती है। अक्षर के ऊपर ही सब लयकारी निर्भर है। दक्षिण म भाषा और उच्चारण की वजह स सगीत के स्वर अलग हो जाते हैं। हरेक भाषा की लय अधिक होती है। हम कैसी भी अच्छी हिंदी बोलें पर उत्तर प्रदेश का जो आदमी हिंदी बोलगा उसकी पक्तियो और घुमावो म जो सुदरता होगी, उसकी भाषा के हिसाब से, वह हमारे यहा नहं आएगी। हम यू० पी० के नही हैं आपको फौरन समझ म आएगा। हम उसस तादात्म्य अनुभव कर सकते हैं पर यह तो अभ्यास हो गया। मराठी भाषा की लय और स्वर हिंदी की लय और स्वर नही हैं। इसी पर तो सगीत निर्भर है। अक्षरो को नाद की दृष्टि से लिख देखें। नाद पर लगा हुआ आघात ही तो अक्षर है।

आपने शायद किसी बातचीत मे कहा था कि सगीत को अभी बहुत कुछ कहना है। सगीत मे यह वक्तव्य यह बतलाता है कि सिर्फ परपरा का विकास आवश्यक नहीं है, बल्कि उससे भी आवश्यक है रचनात्मक विश्लेषण। यह रचनात्मकता आपके गायन मे निरतर मिलती है। सगीत मे रचनात्मकता का तात्पय क्या है ? और

उसका परंपरागत सांचों से क्या संबंध है ? रचनात्मकता के आपके कुछ अपने आग्रह होंगे, कोई निजी परिभाषा होगी ?

संगीत की एक भाषा है। अपन अक्सर क्या करते हैं कि सामान्य जीवन में सोचते नहीं हैं कि बोलचाल की जो भाषा है, कहां तक अपनी है। जब दूसरे क्षेत्र में आते हैं, जैसे ललित कलाओं में, उनकी भाषा क्या है ? जैसे रंग है। लाल रंग को लाल लिखने से पूर्ण विराम होता नहीं। यह लाल रंग है, वह पीला, हरा रंग है, यह सब अपन जान सकते हैं, पर वह जानने से हम पेंटिंग भी जान जाएं ऐसा कुछ नहीं है। उस चित्र में क्या कहा जा रहा है, यह समझ में आना, रंगों के माध्यम से, वह एक अलग भाषा है। संगीत की भाषा अलग है। संगीत जो कहेगा, स्वरों के माध्यम से कहेगा। स्वर और लय। एक मेरी बंदिश है नट राग में। उसमें मैंने कहा 'सपत सुर गावे गुनि जन, भाव राग-ताल काल की उगम'। ऐसा संगीत जो पेश कर रहा है वह मेरा आदर्श है। कैसा ? वह सप्त सुर कैसे पेश कर रहा है 'भाव-राग-ताल काल की उगम'। काल कोई रुकने वाली चीज नहीं है। कला का जो आधार है—सिर्फ इस कला में, दूसरी कलाओं में नहीं—वह काल है। मैं कल दातों को बोल रहा था कि तुम कल के जैसे आज जिंदा हो क्या। जिंदा तो हो ही, कोई सवाल नहीं। मगर कल के जैसे तुम आज हो क्या ? संगीतकार अपनी कला कैसे, किस आधार से पेश करते हैं उसकी व्याख्या है इसमें। तो वे सात सुर गाते हैं, भाव-राग-ताल काल की उगम है, जो टिकनेवाली नहीं है।

कविता में कोई बिंब सूझने पर कवि उसका विस्तार करता है यानी उस बिंब की संवेदना के सहचर शब्दों की ओर उनकी ध्वनि या लय की खोज करता है। संगीत में यह प्रक्रिया किस रूप में होती है ? दूसरे शब्दों में, आपके गायन में कल्पनाशील विस्तार और संरचनात्मक विस्तार में क्या संबंध है ? क्या संगीत में कल्पनाशीलता हमेशा संरचनात्मक रूप लेती है ?—यह किंचित कच्चा प्रश्न जान पड़ा है।

नहीं, प्रश्न अच्छा है। शुरू से आखिर तक पूरा अच्छा न हो तो बीच बीच में अच्छा है, और आखिर में तो बहुत ही सुंदर है। जो आपने पूछा है न कि क्या संगीत में कल्पनाशीलता हमेशा संरचनात्मक रूप लेती है इस पर तो संगीत का आधार है। दूसरी कलाओं में है कि नहीं, मुझे मालूम नहीं। पर इसके बिना संगीत तो हो ही नहीं सकता। अभी मैं कह रहा था कि 'सपत सुर गावें गुनि जन भाव राग-ताल काल की उगम'। हिंदुस्तानी संगीत में ताल एक ऐसी चीज है कि जितने ताल बने हैं उनको अपन संगीतकारों ने सचमुच समझ के

जाना और उनका आघात सह लिया, तो यह एक चुनौती है। राग रूप और ताल रूप जितने भी रूप हैं, जो बाद मे एक-दूसरे से मिलते हैं, उनका आघात वह स्वाभाविक रूप से महसूस करने लग जाए तो उसमे ऐसी रचना है कि एक बार वह जो कलाकृति सगीत मे निर्मित कर जाएगा, उसे फिर कर ही नही सकता। खाला लय मे नही, ताल म वह गुण है। फिर आप वही नही कर सकते, इसलिए शास्त्रीय सगीतकारा को गाते समय आप गौर करेंगे कि व ह्रस्व और दीघ पर ध्यान नही देते। वह ह्रस्व दीघ नही जानता, ऐसा नही है, ताल ऐसा करने नही देती। वह उसे अपन साथ ही ले जाएगी, क्योकि आपको ताल निभानी है। तो दीघ ह्रस्व और ह्रस्व है तो दीघ हो जाएगा। इसी सदम मे कहू, अक्सर लोग कहते हैं कि परदेस के जो वायलिन बजाने वाले हैं, दस लोग बजाए, एक ही समय ऐसा बोझ आता है। दिखता होगा, दृश्य बहुत अच्छा दिखता होगा बजाते समय। मगर भारतीय सगीत म जो तालशास्त्र है, यह किसी को एक सरीखा करने नही देगा। एक ही बदिश आप कहेंगे और मैं कहूगा, तो भी एक ही स्वर गाते हुए आपका अलग हो जाएगा। तालशास्त्र एक ऐसी चीज है—रिदम (लय) उसके नीचे की चीज है। लय स्वय सवाद नही करती, ताल सवाद करती है। जैसे सप्तक परिपूण है, राग परिपूण है, वसे ही ताल भी परिपूण है। ताल अपन सगीत म एक ऐसी निर्मिति है कि आपने एक बार जो गाया है फिर आप उसे ही नही गा सकते।

> **इसलिए हर रचनात्मक परफार्मेंस एक निर्मिति है, जिसे दुहराया नहीं जा सकता।**

दुहराया नही जा सकता। मगर सगीत म चलन यह है कि न जानने की वजह से लोग वही-वही गाते हैं बार-बार। जो असभव बात है, वह अपने सगीतकार करते हैं। यह मेरा उन पर आरोप है। आपने एक दफे जो गाया है, फिर कैसे गा सकते हैं ? उस तथ्य को आप जानें तो। नाद सो जानु रे सुन गानि', यह भीम पलासी की बदिश है—महाकठिन विस्तार हेतु धम है। यानी स्वर का विस्तार जो होता है, वह समझने की बात है। खाली बडे-बडे स्वर लगा देने म विस्तार नही होता है। सुनत देखाय जब ये नाद रहि करो रे आघात सहल । तब ताल सुर बन सार धम है। तो आघात सहन नही करते हो, खाली सुर तुमको मालूम है, मात्रा मालूम है, इससे ताल का ज्ञान होगा, ऐसा नही है। एक ताल क्या है तीन ताल क्या है, उसमे का धिन क्या बोलता है, इसमे का धिन क्या बोलता है। खाली सम पर आने से वह चीज पूरी नही होती। सम म आना जरूरी है। पर सम क्या है, यह मालूम नही। तीन ताल मे सोलह मात्रा हैं यह मालूम है, उसके बोल मालूम हैं, पर उसका गुण क्या है,

यह वे नही जानते । अभी बहुत ताल हैं । पूरे तोल गाये हो नहा गए । ताल-शास्त्र निरतर परिवतनशील है । उसम आप एक सगीत-निर्मिति जो करते हैं वह फिर आएगी ही नही । यानी बाकी सब निश्चित है, हम जान गए । पर कल का जसा दिन आज आप प्रयत्न करें तो भी नही आएगा । कल कैसा दिन गया यह आपको याद रहगा, मगर आज का दिन फिर नही आएगा अपने जीवन म । यह ताल करवानी है लय नही । मैं एक चीज पचास बार कर सकता हू, यह कारखाने की बात हो गई । कोई कलाकार एक मुश्किल चीज को दो चार बार करता ह तो उसमे बडप्पन की कोई बात नही है । यानी सुनने वाले उसका प्रभुत्व जानकर प्रभावित हो जाएगे । मगर वह प्रभुत्व हो गया दिखाने के लिए । अक्सर सगीतकार कला के पीछे रहने के बजाय अपने प्रभुत्व के पीछे रहते है । इससे कला का मम नही आता । लय अदर मिलनी चाहिए । यानी वहा धा कहते ही इधर अदर धा बजनी चाहिए । तो ये जानने के बाद एक बार गाया आदमी फिर वैसा गा नही सकता । भाव तो चाहिए राग कहते ही उसमे रूप आता है । ताल और एक रूप है । और काह से उत्पत्ति है ? समय के फैक्टर पर ताल का बाधा हुआ है । एक मकान बनाया है । यानी इस मकान मे बैठने के बाद आपको जो लगेगा वह दूसरे मकान म बैठने पर नही लगेगा । वह भी मकान है यह भी मकान है । तो तीन ताल गाते समय आपको अलग नही लगे, अगर वह महसूस नही हुआ तो मुझे एक ताल हो या तीन ताल, क्या करना है लेके ? अपने सगीतकारो मे ऐसा ही है । ये तीन ताल, एक ताल और झुमरा—इनमे फक सिफ मात्रा का मानत है । उसका जो रूप है, रूप क्या कह रहा है, इसकी तरफ ध्यान नही होता । सम तो एक पाठातर है, जो उनको समझा दिया गया है कि तुम्हारी बदिश ऐसी है—यहा स उठकर वहा आ जाओ । यह काम भी मुश्किल होता होगा, मानते हैं । मगर चीज वहा खत्म नही होती ।

सुना है कि आपके प्रशसको मे बहुत से वास्तुशिल्पी हैं । शायद आपको यह बात मालूम हो । क्या यह कोई सयोग भर है या आप अपने गायन मे स्वरो की जो सरचनाए करते हैं, उनकी बनावट का वास्तुकारी की रचनाओं से कोई स्वाभाविक रिश्ता बनता है ? सगीत जसी अमूत्त कला के इस अत्यत मूत्त पक्ष को लेकर कुछ कहेगे ?

यह सच बात है कि कई सारे वास्तुशिल्पी मेरे मित्र हैं । नये पुराने चित्रकार साहित्यिक भी हैं मेरे मित्र । पर इसका कारण मैं अभी तक नही समझा । उनको मेरे सगीत मे क्यों इतनी रुचि लगती है ? अभी परसो मैं अहमदाबाद

गया था। उधर जोशी जी मेरे प्रेमी है। तो वह आए कि कुमार एसा ऐसा वास्तु बन रहा है, आपको दिखाने की इच्छा है। हम उठे और जाकर देखा। वह अहमदाबाद मे नया थियेटर बना रहे हैं। बीस साल मे। बहुत सुदर है। तो उन्होने दिखाया। हम खुश हो गए। यह मुझे दिखाने की उनकी क्या इच्छा है ? क्या मैं वास्तुशिल्पी हू ? बिल्कुल नही। मेरी उसमे रुचि होगी, पर मैं उस पर बात नही कर सकता। दूसरे दिन कार्यक्रम था। वह मध्यातर म आए और बोले कि यह हमारे वास्तुशिल्प म नही बन सकता, यह जो आज आपने सुनाया। शकरा राग था। उसे मैं कितनी भी ऊचाई मे सुना सकता हू चाहे जो दिखा सकता हू। तो जोशी को तो मेरे गाते समय अपना पूरा थियेटर ही दिखता होगा।

यह स्वरो की लबाई की बात है। वास्तुशिल्प और क्या है ? लाइन ही तो है, रेखा है। पेंटिंग भी क्या है रेखा है, रग है। और स्वर मे भी वह चीज दिखा सकते है। गोलाई दिखा सकते हैं। सगीत म एक और बात है, जो दूसरी किसी कला म नही है। सगीत म आप सिर्फ जा सकते हैं, बिना आए। जिसे आरोह अवरोह कहते है—यानी जाना और आना। सगीत म बिना अवरोह के आरोह हो सकता है। सिर्फ जाना। और सिर्फ आना भी हो सकता है। इस पर बडे-बडे राग निर्मित है। कोई-कोई राग सिर्फ आने पर है। कोई जाने वाले है, आने वाले नही। बिना गए आ सकते हैं। सिर्फ आना। आ ही रहे ह बस। आरोह करने के बाद अवरोह करने की जरूरत नही है फिर से आरोह कर सकते हैं। तो उसमे आप जितना चाहे स्पेस का निर्माण कर सकते हैं। और वजन भी है सगीत म। जितना वजन आप चाहे। एक स्वर लगाते समय आप दब जाएगे उसके नीचे। आपको महसूस होगा कि अरे कितना वजन है इसम। इसी तरह बहुत हल्का भी स्वर लगा सकते है। बिल्कुल हल्का। आवाज कितनी भी बडी या छोटी हो, उसका सवाल नही। उसमे भी बहुत ही हल्का स्वर लग सकता है। और वही स्वर ऐसे आ सकता है कि आप दब जाएगे।

एक बार आपने कहा था कि घरानों ने समय तक सगीत के बकों का काम किया, आज उनकी आवश्यकता नहीं रही। आपने स्वय अपने को किसी घराने से नहीं जोडा है। आपने घराना परपरा से एक तरह से विद्रोह किया है। दूसरे, गायन के स्वरूप और आस्वाद मे आपने जो परिवर्तन किए हैं, जो नई प्रयोगशीलता उसे दी है, उसे घरानो के अनुशासन मे बाध पाना सभव नहीं है। घराना होते ही प्रयोग करने की अनवरत सभावना नष्ट हो जा

सकती है। लेकिन आपके जो शिष्य हैं, जो आपके अदाज मे, आपके अनुशासन मे गाते हैं, वे निश्चय ही जाने-अनजाने उसे परपरा का रूप देंगे। सभव है, वह घराने-जैसा कोई रूप ले।

पहली बात मेरे नाम मे, मेरे सगीत का जो रूप है उसका घराना होगा कि नही होगा, इस बारे मे मैंने कभी गलती से भी विचार नहीं किया, क्योकि यह मुझे कभी महत्वपूर्ण बात नहीं लगी। मेरे सगीत के बारे मे जो विचार हैं, कला के बारे मे, महत्त्व उनका है। घराने मे जो दोष है वह यह है कि वह सोचता नही है। कला मे मुझे यह मान्य नही है। जिसको सोचना नही है और मजे से रहना है, वह घराना मानेगा-चलाएगा। मठ स्थापना करने वाला जो व्यक्ति होता है, वह मैं नहीं हू। मेरी परपरा चले, मेरी कोई इच्छा नही है। हा, कला के बारे मे मेरे जो विचार है, उन पर स्वतनता से विचार जरूर हो।

अभी तक घरानो ने जो कुछ किया उसमे से अच्छा कुछ निकला नही। घराना के पीछे इतना ही विचार रहा है लोगो का कि वह बने रहे। एक तरफ तो कहते हैं कि सगीत परिवर्तनशील है। हर सगीतकार कहेगा। पर करते कुछ नही। नयी चीज कोई सामने आ जाए तो उसे समझे जाने की बिल्कुल कोई गुजायश नही, क्योकि वे वही वही कहानी फिर से सुनना चाहते है। बच्चा जैसी बात है। और परपरा काहे के लिए रहे? खराब होने के लिए? सगीत मे यह अशक्य बात हुई है, इसीलिए तो वह पीछे गया है। सगीत का अस्तित्व घरानो की वजह से नही है, बल्कि घरानो की वजह से सगीत पीछे गया है। डेढ सौ साल पहले जैसा गाते थे वैसा तो कोई गाता नही अभी। तो घराने का क्या मतलब है? सब घरानो का मैंने अक्षर में निकालकर रखा है कि ऐसे ऐसे अक्षर उच्चारण करो तो फला घराना हो जाएगा। सीखने की जरूरत नही। एक प्रकार की आवाज निकालने के बाद घराना होता है क्या? मैंने शुरू मे कहा था कि घराना ताश के पत्ता का बगला है। कितना ही बडा बनाओ, टिकनेवाला नही है। घरानो के पीछे विचार ही नही है कुछ। कितने सगीत-कार बातें बहुत करते हैं, पर करते कुछ नही। खुद मैं तो वैसे ग्वालियर घराने का आदमी हू।

आप भी ग्वालियर घराने के हैं और कृष्णराव शकर पडित भी। तो घराने के अदर कुछ तो समानता नजर आनी चाहिए, नाक-नक्शे मे

ग्वालियर घराने मे जो राजा भैया पूछवाले थे, उनके और कृष्णराव पडित के गायन मे क्या साम्य है? और पूछवाले के लडके हैं, उनमे क्या साम्य है?

राजा भैया और कृष्णराव पंडित—एक ही गुरु के शिष्य, एक ही जमाने के हैं। पूरा पासा कौन है? ग्वालियर घराना। ये इतने अच्छे अच्छे गानेवाले थे कि सब यहीं से थे। तो मुख्य जगह का नाम होता जैसे गोत्र का नाम होता है न वैसा ही है। किसी को क्या मालूम उसका, पर पुरोहित पूछता है तो लोग सेरे के लिए याद रखते हैं कौशिक गोत्र। अरे, कौशिक क्या और कुमार गन्धर्व क्या—कोई तुक है यार इसमें। इसमें सिर्फ अभिमान नजर आता है कि हम बुजुर्गों ने जो थे। सिखाया था उसमें से कुछ, बाकी अपने ढंग से आए। यही मतलब है।

मेरा स्पष्ट विचार है कि जितना कलाकार होता है वह घराने पर चल कर कलाकार नहीं हो सकता। वह संगीतकार होगा, गानेवाला होगा, कलाकार होने के लिए उसको खुद की खोज करनी पड़ेगी। मैंने समझा यही चीज है उसे गाना जरूर आएगा और निश्चित अच्छा होगा। क्योंकि इतने-इतने मैंने देखा है कि बचपन से लोग जिन्हें गायक कहते थे बाद में वे गायक नहीं हैं या सिद्ध हो गया। उनके गायक बनने के लिए कोई सवाल ही नहीं। यह क्या हुआ, किसने किया? किसी एक ने या मिलकर लोगों ने दुष्ट-बुद्धि से कुछ नहीं किया। स्वाभाविक है यह। उनके विकास के पैर छिदा गया। बाद में प्रेमी लोगों ने उनको सम्भाला। पहले के जमाने में पाँच-छह राग आ जाएँ तो गवैया हो जाता था। सुनने का मौका कम आता था। साल भर में कभी एक बार सुनते होंगे। आजकल तो हर जगह संगीत मिलता है रिकार्ड प्लेयर है, रेडियो है टी० वी० आ गया। टी० वी० आने के बाद सब संगीतकारों की ऐसी मुश्किल हो जाएगी कि पूछिए मत। ये सब अलग अलग माध्यम आ रहे हैं। मैं कहता हूँ आप चलिए, मैं आता हूँ लोगों से इंदौर। आप मानेंगे क्या? भैया, आप मत आओ। आप लोगों से आने वाले हैं हम तो बाहर से आएँगे। इसमें आपका और मेरा कैसा मेल बैठेगा यार? पहले के जमाने में कम पूँजी बहुत दिन चलती थी, अभी चाहे जितनी पूँजी हो, खत्म हो जाती है। पहले मामूली भी जो गाता था गायक ठहर जाता था। रेडियो में गाने वाला को अक्सर दिक्कत रहती है कि अब नया क्या गाए। बिना समझ वाले जो डिप्टी अफसर हैं वही पूछते हैं कि साहब यह तो आपने पिछले महीने गाया था। उसने जो थप्पड़ मारा वह गायक का मालूम नहीं। यह बड़े-बड़े संगीतकारों के साथ होता है। आज क्या गाए अगले महीने क्या गाए। कितनी बार दुहराएँगे? कहने के लिए ठीक है कि कल्याण समुद्र है। गा के दिखाइए समुद्र है कि नाला है। दो दिन में इनका कल्याण खत्म।

आज सुनने को बहुत मिलता है। ये जो नये माध्यम आए हैं, बहुत भयानक हैं। इनकी वजह से लोगों का सुनने का दर्जा बहुत बढ़ गया है।

आपने अभी कहा कि आप चाहते हैं कि आपके सगीत या सगीत पर आपके जो विचार हैं, उन पर सोचा जाए। इसे कुछ और स्पष्ट करें।

मुझे लगता है कि जैसे दूसरी कलाओ में—साहित्य मे, चित्रकला मे—विचारो का आघात सहन करने की जो बात है, वह सगीतकारो मे नही है। उन्होने सोचा नही कभी। और इस क्षेत्र मे जो आजकल हैं और पहले जो थे, रियाज करके सगीत पैदा करते थे। अच्छा करते थे, इसमे कोई शक नही। पर विचार उसके पीछे कुछ नही था। कला कहते ही विचार चाहिए। आवाज अच्छी है तो उसे लेके क्या करें? कोयल की आवाज भी अच्छी रहती है, पर वह गायक है क्या? कला का काम ही व्यक्त करना है। मुझे क्या कहना है, जब यही मुझे मालूम नही है तो मैं कुछ भी कहू, क्या फर्क पडता है।

नाटक, कविता, चित्रकला, सारी कलाए अधिक परिवर्तनशील कही जाती हैं। उनमे बदलती हुई दुनिया के बदलाव अनेक रूपो मे देखे जा सकते हैं। इसके विपरीत सगीत को कुछ यथास्थितिशील कला माना जाता ह, क्या यह सही ह?

इस बार मे तो पहले भी बात हो गई ह। सगीत इतनी परिवर्तनशील कोई कला नही है। आपको साहित्य हाथ के सामने दिखता है, चित्र आपके सामने है, शिल्प हैं पर हजारो साल से सगीत एक जैसा रहा नही। यह कला रहती ही नही है। मैं आपको पुराना सगीत और नया सगीत सुना सकता हू कि वह कैसे बदल पाया, पर उस वक्त सौंदर्य का दृष्टिकोण अलग था। वह सगीत अब नही है। सौ डेढ सौ साल पहले ग्वालियर घराना जैसा गाता था, वह मुझे गाना आता है। मैं १२ साल की उम्र से ग्वालियर घराना ही सुना रहा हू। मैं सगीत मे सीमात पर खडा हुआ व्यक्ति हू पहले के सगीतकारो से मेरा अच्छा, स्वाभाविक सपर्क रहा और अभी जो परिवर्तन का जमाना है इसका भी मुझे अनुभव है। ये कहा हैं मुझे मालूम है और मैं कहा हू इसकी भी मुझे पूरी परिकल्पना है। मैं सगीत म उत्खनन करने वाला आदमी हू।

अच्छा, आधुनिकता के प्रभाव सगीत मे किसी तरह से आप देखते हैं?

आधुनिकता? जो नये-नये क्षेत्र आए ह, पहले नही थे। यानी कुछ साल पहले फिल्म का सगीत नही था। एक बिल्कुल नया सगीत आ गया है। वह भी सगीत ही है। मेरे गाने से भजना को जो प्रतिष्ठा मिल गई, वह पहले नही थी। पहले ख्याल और ठुमरी गाने वाले लोग थे। कुछ टप्पा गाते थे। बहुत

ही कम। प्रतिष्ठित सगीतकार, ख्याल, ध्रुपद गाने वाले कभी तराना भी गा लेते थे। यानी हलकी चीज। अब हल्की चीज कुछ नही रह गई है। सब जात चली गई है। रेडियो मे ठीक है कि लोक-सगीत बिना समझे बजाते रहते हैं, बात अलग है। महाराष्ट्र मे नाटय-सगीत बिल्कुल अलग है। और स्वतत्रत होने के बाद वो लेफ्ट राइट के गाने आ गए। मार्चिंग साग। चीन का आक्रमण हुआ न जब, तो हमे स्टेशन डायरेक्टर ने कहा। हमे लडाई का कोई अनुभव नही तो मार्चिंग साग कहा से आएगा ? वह हमारे रक्त मे ही नही है तो क्या करें ? यह सगीत का एक तरह का उपयोग है। तो, इस तरह सगीत का क्षेत्र पहले से बहुत बढा है। पहले ठुमरी गानेवाले की इतनी प्रतिष्ठा नही थी। बेगम अख्तर की जो प्रतिष्ठा अब है वह पहले नही थी। सिद्धेश्वरी, रसूलन बडी नही थी पहले। पहले राग-सगीत ही गानेवाला गायक कहा जाता था।

सगीत और समाज के रिश्तो पर भी आपका ध्यान गया होगा। मनुष्य के प्रति सगीत का जो दायित्व ह, उस पर। दूसरे शब्दों मे, हमारे समाज को सगीत की, इस सगीत की जरूरत क्यो ?

ऐसा है कि यह भूख है। भूख। इसान की जरूरत है। खाली खाने पीने पर उसकी जिंदगी आखिर तक गा नही सकती। इसमे उसका बडप्पन नही। नही तो वह चलता-फिरता जानवर हो जाएगा। साहित्य भी तो चाहिए। आपने सगीत क्या पूछा ? साहित्य, चित्रकला क्यो चाहिए ? एक ही सवाल है यह। ललित कलाओ को हम सास्कृतिक गतिविधि कहते हैं। बेकारी की, समय बरबाद करने की गतिविधि क्या नही कहते ? क्योकि इसके बिना अपना चारा नही। और जीवन मे कलाओ का उपयोग आनद मे वृद्धि करने के लिए है। आप किसी मुसीबत मे उलझे हुए हैं, चलो खाना खा लेंगे, वह उलझन चली जाएगी, ऐसा हो तो बात है। चार पाच लडडू खा लेंगे तो चिंता मिट जाएगी। ललित कलाओ का जीवन मे बहुत बडा स्थान है। उनके बिना जीवन नही है। सगीत तो सबसे निकट है। आदमी पर उसका परिणाम भी आमने सामने हो जाता है। चुप्पी उसमे है ही नही। वह चिल्लाने वाली कला ही है, चुप बैठनी नहीं है। सगीत दूसरी कलाओ से ज्यादा असर करता है। वह घेर लेता है। तबूरे बजने लगें या कोई गाने लगे, तो खाली यही थोडे रहता है वह, पूरा फल जाता है। मुसाफिरी है उसकी। चित्रकला इस तरह नही जाती। पेंटिंग यहा रखन के बाद उस कमरे मे नही जाएगी। इधर आना पडेगा आपको, देखने के लिए। हरेक के जो माध्यम हैं अलग-अलग हैं। सगीत ऐसा नही है। सगीत जीवन म शाति आनद के लिए है। आनद वृद्धि के लिए। यानी झगडा मत

करो यार, मजे मे बैठो। बाद मे देखेंगे, कल देखेंगे। किसी भी कला का यही उद्देश्य है। सगीत मे बिल्कुल निर्विकार आनद है।

आपके प्रशसक जानते हैं कि दूसरी कलाओ मे भी आपकी गहरी रुचि है। क्या दूसरे कला रूपो से आपको सगीत मे प्रेरणा मिलती है?

बिलकुल। दूसरी कलाओ से क्या, हरेक चीज से मिलती है। दूसरी कलाओ को देखने, साहित्य पढने के बाद मेरे तो सगीत मे परिवर्तन होता है। मैं जब कोई साहित्य पढता हू तो मेरे काम की कोई चीज उसमे है कि नही, यह मैं देखता रहता हू। चित्रकला के साथ भी यही है। एक घटना मुझे याद आ रही है—कहा से क्या अपने को मिलेगा इस पर। शायद एक बार नेहरू जी आने वाले थे, तो आसपास म गावो मे बोर्ड लगाये गए थे। इधर बिजाना करके एक गाव है। बिजाना। वाह, बडा अच्छा नाम है—बिजाना। मैं बिजाना बिजाना करता हुआ गाडी मे बैठा था। यह बडा अच्छा नाम है बिजाना। खैर। जब बाड लगे हिंदी-अग्रेजी दोनो मे, तो ख्याल आया कि अरे यह तो 'बिनजाना' है। मैंने उसम एक बदिश बाध दी। तो किस समय क्या आदमी को सूझेगा बोल नही सकते। बबई जाते समय रतलाम के पास एक मोरवानी स्टेशन है, वह मुझे अक्सर बहुत अच्छा लगता है। बहुत स्टेशन हैं पर यह मोरवानी खूब नाम रखा यार इसका। कोई जरूरी नही कि रचनात्मक प्रेरणा के लिए कोई अच्छी घटना ही चाहिए। वह कही से भी मिल सकती है। यानी एक खराब घटना देखने के बाद आपको एक बहुत अच्छी चीज भी मिल सकती है। इसके बिल्कुल विपरीत।

आधुनिकता के दबावो पर आपने काफी कुछ कहा है। मसलन पहले जो माना जाता था कि शास्त्रीय ही एक मात्र सगीत है, यह धारणा अब बदल गई है। जसे फिल्म सगीत है जिसे लाखो-करोडो लोग उसी स्वर मे सुनते हैं। तो यह जो लोकप्रिय सगीत है—फिल्म सगीत या जिसे रेडियो सुगम सगीत कहता है या पश्चिम का पाप सगीत आदि—उसकी चुनौती को शास्त्रीय सगीत किस तरह देखता है?

राग सगीत को उसकी तरफ देखने की कोई जरूरत नही। उसका स्तर इतना ऊचा है—आप साधना करें या न करें वह दोष आपका है राग सगीत का नही। सस्कृत भाषा आपको नही आती है तो सस्कृत भाषा क्या करेगी? सुगम या फिल्म सगीत वगैरा का जीवन बहुत छोटा है। जैसे बारिश मे कीडे

पैदा होते है उनको कौन गिनता है ? इतनी बडी दुनिया है राग सगीत की। टिड्डी दल एक प्रात म खाकर जाएगा और क्या करेगा ? राग सगीत को डरने की जरूरत ही नही है। हम कहते हैं, यह दूसरा सगीत लोगो को बिगाड नही रहा है अच्छा कर रहा है। उसकी वजह से आप राग सगीत की ओर झुकेंगे। लता के रिकार्ड कितनी बार सुनेंगे आप ?

अर्थात क्या फिल्म-सगीत से ऊब मे ही शास्त्रीय सगीत की सभावनाए निहित हैं ?

नही, इसका सवाल ही नही है। वह अपना काम करे। इतना शास्त्रीय सगीत सब लोगो तक पहुच भी कैसे सकता है ? अच्छा स्वर, अच्छी लय सुनने की इच्छा सबकी होनी है, क्या सबको शास्त्रीय सगीत सुलभ हो सकता है ? सबको कुमार गधव पर समय बरबाद करने की फुरसत नही है। पर सगीत तो उनको भी चाहिए—ऐसा, जो समझ म आए। तो चुनौती वगैरा कुछ नही है राग सगीत के लिए। जो सचमुच साधक होगा चालू जमाने मे उसकी जो कद्र होगी वैसी कभी पहले नही रही होगी। लोग नाचेंगे लेके उसको। पहले दरबार मे जो सगीतकार थे—यानी राजाओ के जमाने मे—तो सभी राजा सगीत नही समझते थे। जसे घोडे हाथी बाधते हैं ऐसे गायक भी रहते थे। कोई कोई राजा होता था जो सगीत से प्रेम रखता था सगीतकारो पर उसका प्रेम भी ज्यादा दिखाई देता था। ऐसे कुछ राजा ग्वालियर मे हो गए। मगर उन सगीतकारो ने लोगो की तरफ क्या ध्यान दिया ? अपने उन सगीतकारो ने लोगो की तरफ क्या सोचा ? लोगो को गाना समझ में आए इस दृष्टि से उन्होने कुछ किया क्या ? सीखने के लिए जो आते थे उनको लात मार देते थे वे।

शास्त्रीय सगीत के समकालीन परिदृश्य के बारे मे कुछ बतलाइए। आप अपने समकालीन गायको के बारे मे क्या सोचते हैं ? एक जमाने मे एक साथ बडे-बडे सगीतकार हुए। यह भी कहा जाता है कि इस समय जो गायक हैं वे अतिम बडी आवाजें हैं। गायन मे उभर रही नई पीढी के बारे मे आप क्या सोचते हैं ?

नये जमाने मे क्या एक बडी सुविधा हो गई है कि माइक आ गया है। माइक की वजह मे स्वाभाविक आवाज मे सगीतकार आजकल गा सकता है। जबरदस्ती उसे चिल्लाने की जरूरत नही पडती। और पहले यानी २० २१ साल पहले, एक जो शात दुनिया थी वह अभी नही है। बिना माइक के वही फकान नही कर सकते आजकल। पहले शोर था ही नही। दिमाग म यह जो हडबड

है, यानी हर तरीके से आवाज, गाडी की आवाज, ये खडखड आवाज, ये आवाज वो आवाज। पहले शात दुनिया थी। मामूली आवाज भी दूर तक सुनाई दे जाती थी। माइक की दुनिया नही थी। माइक पर गाने वाले लोग भी नही थे। उनकी उस वक्त सुनने की क्षमता भी ज्यादा थी। आज लोगो को सुनाई नही देता बिना माइक के। क्योकि वे इतना शोर सुनते हैं, इतना सुनते हैं कि कोई भी चीज दिखाने के लिए आख के सामने ले जाना पडता है। इसलिए बडे-बडे शहरो मे आप देखते होंगे कि एयरकडीशन हॉल हो गए हैं सब। अतिशयोक्ति है यह जो आपने पूछा, मगर माइक की वजह से नुक्सान तो जरूर हो गया—आवाज निकालने का।

और नये सगीतकारो यानी समकालीन जो हैं, उनके बारे म क्या बोलू मैं? गाते हैं। उन्होंने जो सगीत समझा, उनको जो आता है उसे अच्छी तरह से पेश करने का प्रयत्न करते हैं। मगर यह जरूर है कि गडबडा गए हैं सब। उनमे वह शाति नही है। विचलित हैं। पहले के सगीतकारो म वह एक शात प्रकृति की उपस्थिति थी। आज के सगीतकारो को मालूम नही कि क्या गा रहे है। उनमे उनको खुद को रस नही है। जो अख्तरी बाई शुरू मे गाती थी—नाम होने के पहले—उनके जो रिकार्ड हैं, उनम जो गहराई है वह बात नाम होने के बाद नही रही। यह बात अलग है कि आपने गजल लिख दिया, आपने गजल गा दिया। बाकी क्या? अख्तरी बाई का सोचना बडा विचित्र था कि मैं गा नही सकती। लोग पसद करते है, तो गा देती हू। आप मान दे रहे है तो हम क्या करें। आजकल के सगीतकार बिल्कुल हिले हुए है सब। विचार व्यक्त करना चाहते हैं तो वहा गडबडा जाते हैं। कहने से होता थोडे ही है कि मैं अलग से अपना सगीत सुनाऊगा। कोई भी सगीतकार कहे कि मैं नया कुछ निर्माण करूगा, तो कहके किसी ने किया है? आप भी जो कुमार गधर्व का नाम लेते हैं, उसने कभी ठहरा के कुछ नही किया। हो गया। होने के बाद आप उसे मानते हैं, यह अलग चीज है।

एकदम युवा पीढी जो सगीत मे पैदा हुई, उसमे आपको लगता ह कि सभावनाए हैं?

युवा पीढी मे मेरे बाद क्या—तो उसम बोल नही सकता। सभावनाए ठीक है। मगर ऐसा है न कि कौतुक करने की ललित कलाओ म कोई गुजाइश नही है। मेरे बच्चे ने एक तान अच्छी मारी तो वह अच्छा गवैया है, मैं यह कहू? यह मेरे मे नही होगा। क्योकि बचपन से मेरा कौतुक इतना हुआ है। मेरे इतना कौतुक तो किसी सगीतकार का हुआ ही नही। मुझे मालूम है कि कौतुक क्या चीज है। मेरी जगह दूसरा कोई लडका होता न, तो बदर हो जाता। पूछ

निकल आती उनसे। गलती ये क्या है कि उनका दुरुपयोग मैंने कर लिया। तो हमारे बाद की जो पीढ़ी है उसके बारे में अभी कुछ नहीं कह सकते। किन्तु हाल जितने गायक करते जिनका नाम लेते हैं—पुराने लोग—उस बात में, उनको पहले शिक्षण नहीं मिला है उस स्थान है। उनको जैसा ज्ञान चाहिए—पुराना यानी पहले का संगीत साहित्य उतना मिला नहीं, बहुत थोड़ा मिला है। क्योंकि सिखाते हो नहीं थे न। वे सिखाने में बड़े कंजूस थे। पर मतलब कि अपने संगीतकारों को पढ़ना आता नहा। अगर ज्ञान न हो ऐसा नहा, संगीत पढ़ना नहीं आता।

> कई बार लगता है, आपकी कला के उत्स आध्यात्मिक हैं। आप लोकसंगीत से भी तत्त्व ग्रहण करते हैं, उनकी प्रकृति भी आध्यात्मिक है। क्या आप इन तत्त्वों को कलात्मक उपयोगिता के कारण चुनते हैं या अपने सामान्य जीवन में भी कुछ स्थान देते-मानते हैं? आपका उद्देश्य सायक-समृद्ध संगीत प्रस्तुत करना भर है या ऐसा संगीत जिसके आध्यात्मिक आशय भी हों?

संगीत को समृद्ध करना तो है, इसमें तो कोई दो राय नहीं। लोक-संगीत की तरफ मैं इसीलिए गया। जैसा मैंने पहले बोला कि मैं राग-संगीत का उत्पत्ति स्थान, उसका उदगम खोजने निकला। तो यहां आके टिका।

तो, स्वाभाविक चीज भी ऐसी कुछ सुंदर रहती है कि उसका हानी है यह सचमुच स्वाभाविक है क्या। बिना कोई प्रयत्न किय कोई चीज दिखाई दे आपको, आप हैरान न हो जाएंगे तो और क्या करेंगे? लोकगीतों में जो धुन और अक्षर हैं उनमें ऐसा ही है। मैं यहां सिर्फ स्त्रियों के बारे में बात कर रहा हू। स्त्रियों के गीत परिवर्तनशील नहीं होते। जो टिका हुआ है बहुत कुछ स्त्रियों की वजह से टिका हुआ है। स्त्री तो परंपरा प्रिय होती है। दूसरे गीत लोगों को खुश करने के लिए रहते हैं स्त्रियों के नहीं। स्त्रियों के गीत सिर्फ अपने लिए होते हैं। तो स्वाभाविक लय, बिना कुछ सोचे इतनी सुंदर है तो संगीतकार इतना प्रयत्न क्यों करते हैं लय निर्माण करने के लिए? क्या इतना विलंब करते हैं? खाली स्वर और व्यंजन का अलग-अलग उच्चारण करने से लय निर्मित होती है क्या? लय तो इसके आघात में से निकलनी चाहिए। अलग लय करने की जरूरत ही नहीं।

और एक दूसरी बात कि जो स्त्रियां गाती हैं बहुत बार ऐसा हुआ है कि लिख लेना मुश्किल हुआ है। इतना मुश्किल कि अपन को समझ नहा आता वे गाती कैसे हैं। बीहड़ मरव की धुन—मगजपच्ची कर दी पर समझ में नहीं आया कि यह क्या गा रही है। ऐसे ही एक जात है आई। वह जब गाने लगी

तो मैं हैरान रह गया। उसने जो आवाज निकाली, क्या वह। उसके पीछे कोई प्रयत्न नहीं है। इधर क्या है कि समझदारी आ गई। उधर कोई समझदारी नहीं है। अब वह आवाज निकलना आसान थोडे ही है। उनके लिए होगा, हमारे लिए नहीं।

> यह आपने लोकसगीत के बारे मे बताया। हमारा सवाल यह है कि क्या सगीत के माध्यम से एक ऐसी दृष्टि आप अभिव्यक्त करते हैं जो कलात्मक होने के साथ-साथ आध्यात्मिक भी ह, जिसका कलात्मक होना उसके आध्यात्मिक होने से जुडा ह ?

अगर चीज होगी तो लगेगी। जैसा करते है, वैसे ही खुद होना चाहिए। इसके बिना नही हो सकता। मैं जैसा आपको गाने म दिखता हू वैसा मैं हू।

> राग-सगीत के भविष्य की आपकी क्या कल्पना है ? क्या कलाओं पर हमारे समय मे जिस तरह के दबाव हैं उनके रहते शास्त्रीय परपरा यथावत चलती रहेगी ? कहीं उसके अजायबघर की चीज बन जाने का खतरा तो नहीं लगता आपको ?

यह साधक लोगो पर निभर है। आप जो महसूस कर रहे हैं उसे किसी कदर मैंने भी महसूस किया है। सगीत क्या सचमुच अजायबघर मे जाएगा ! मगर क्या जाएगा, यह भी सवाल है, क्योकि सगीत कोई रखने या रहन की चीज नही है। वह कोई चित्र या मूर्ति नहीं है। यानी साधक रहेंगे तो रहेगा, नहीं तो नही रहेगा। मेरे पहले की जो पीढी थी उसकी रागों पर जो एक आस्था थी, उनके प्रति जो अभिमान था, वह अब नहीं रहा। उस समय अगर राग अच्छी तरह नहीं आता था तो नहीं गाते थे, अब बिना आए गाते हैं। तो नये लोगो में रागो के प्रति ज्ञान और रवैया बहुत शिथिल है। राग के बरता का एहसास नये सगीतकार को नहीं है। और यह देखकर उन्हें दुख होता है। अब देखो कौन गाता है ? सब चालू गा रहे हैं। इसके-उसके गायक शान बना रहे हैं। गलत राग गा रहे हैं, घराने के नाम भी। आगरा घराने के नाम पर भी घराने की मिट्टी पलीद कर रहे हैं।

> ऐसे आधुनिक लेखक और चित्रकार भी अनेक हैं जो सगीत या दूसरी कलाओं में गहरी दिलचस्पी लेते हैं और उनकी अच्छी जानकारी रखते हैं। लेकिन ऐसे सगीतकार विरल हैं जिनकी दूसरी कलाओं में खास रुचि हो ? ऐसा क्यों ?

सगीतकार बहुत ही ज्यादा क्या जाना चाहिए ? यह गहरा सवाल है। ...

सगीत का एक अग

कलाकार होना है। कलाकार को बहुत ही समझदार होना चाहिए, ऐसा मैं मानता हूं। भले ही वह दूसरी बातों पर बात करे, न करे, मगर ज्ञान की दृष्टि से जितना समृद्ध उसका जीवन होगा, उतना बड़ा कलाकार वह होगा। खाली संगीतकार बड़ा नहीं हो सकता।
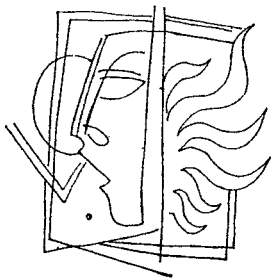
सत्य से आंशिक साक्षात्कार

किशोरी अमोनकर से मृणाल पांडे की बातचीत

किशोरी अमोनकर का नाम हिंदुस्तानी सगीत की श्रेष्ठ गायिकाओ मे भी अग्रणी के रूप म शुमार किया जाना है। आपने जयपुर घराने की गायकी पर नये रूप और लावण्य के साथ अधिकार अर्जित किया है। आपने देश-विदेश की लगभग सभी प्रतिष्ठित सगीत सभाओ में शिरकत की है। मध्यप्रदेश कला परिषद् द्वारा आयोजित उत्सव ७५, ७८ और ८१ मे भी आपने सगीत रसिक समाज पर रसवर्षा की है।

●

मृणाल पाडे की लिखी कहानिया और समीक्षाए प्राय चर्चा का विषय बनती रही हैं। उनकी पुस्तकें शब्दवेधी (कहानी-सग्रह), जो राम रचि राखा, मौजूदा हालात को देखते हुए (नाटक), एक नीच ट्रैजेडी (उपन्यास) काफी सराही गई हैं।

दुबला कुछ-कुछ लम्बूतरा चेहरा, खड्ग की धार सी सुतवा नाक, और गहरी आखें जो उनके बोलते-बोलते कभी अचानक अतर्मुखी होकर अपने भीतर कुछ टटोलने लग जाती हैं, एक साथ तटस्थ और चेतन। किशोरीजी का पूरा वजूद अपनी गहन पुजीभूत 'इटेंसिटी' से खीचता है चाहे वे उनकी आखें हो या उनके दुबले निरतर गतिशील सवेदनशील हाथ। उनके शब्दो मे भी वही साफगाई और स्नायवीय आवेग है जो उनके स्वरो मे हमे बाधता है पर जहा उनके शब्दो के पीछे उनके विवेकपूर्ण चेतन क्षणो का तर्कसगत सुथरापन है ? उनके स्वरा के पीछे भावनाओ का वह प्रबल उफान है, जो सारे कला सबधी पूर्वग्रहो, धारणाओ की ऐसी की तैसी करता हुआ श्रोताओ पर विशुद्ध रस के रूप मे निम्र्र बरसता है। किशोरीजी के पूरे व्यक्तित्व मे इन दोना तत्त्वो की सतत टकराहट और विचित्र अतर्गुम्फन है।

इस बार उन तक पहुचने का मेरा पासपोर्ट उनके साथ उनकी प्रिय शिष्या माणिक भिडे थी, जिनकी सतत निश्छल मुस्कुराहट और अपने 'गुरुजी' के प्रति अगाध स्नेह और वात्सल्यपूर्ण अनुशासन का भाव किशोरीजी की प्रचड स्नायवीय ऊर्जा को बहने के लिए एक सहज सुकुमार मानवीय धरातल देता जाता है। पहले रोज जब मैंने माणिकजी से डरते डरते किशोरीजी का इटरव्यू लेन की बात की थी तो वे हस कर बोली—हा हा क्या नही ?' पर फिर तुरत कुछ धीमे स्वर म जोडा—पर जरा रुक कर, उनम परमिशन लेने का भी खास मौका होता है वर्ना बात वही —उन्होने हाथ से 'खलास' का इशारा किया।

अगले दिन आदत के अनुसार मैं समय से कुछ पहले ही वहा पहुच गई थी। किशोरीजी तैयार हो रही थीं, मेरे ठिठकने पर उन्होने बडी सहजता स इशारा किया, 'बैठो न!' मैं कुर्सी पर सतर हो बैठी। किशोरीजी ने दो चार छोटे मोटे काम निबटाए, काफी के लिए फोन किया। फिर जाकर गगूबाईजी से मिली—वे बगल के स्वीट म टिकी थी और उनके कार्यक्रम से पहले ही किशोरीजी को

लौट जाना था। यह सब होते-हवाते माणिकजी भी नहा धोकर निकल आई थी। कुछ स्थिरता आई।

००

'बोलो, क्या पूछना है?' किशोरीजी मर्वे सिकोडे ताक रही थी—'वैसे इंटरव्यू का मुझे कोई बहुत अच्छा अनुभव नहीं है।' मुझे बहाना मिल गया था प्रश्न न पूछने का। तुरत मैंने सुझाव दिया कि प्रश्नोत्तर की फामल श्रृंखला के बजाय क्यो न वे बोलें और मैं लिखती जाऊं? ठीक है', वे राजी हुई फिर मुड़कर बैरे से कहने लगी कि, क्या वह अडा-वडा ले आया है—उन्होंने कहा नहीं था कि सिर्फ गम टोस्ट—और यह काफी है?' उन्होंने हिकारत से केतली का ढक्कन उठाया—एकदम कुनकुनी बैरा नम्रता से कुछ कहने जा रहा था कि वे हंस पड़ी—भैया यह आडर तो हमारा हो ही नहीं सकता, हमने वेजीटेरियन डायट को सुबह पहले ही कहा था या नहीं?' क्रोध कपूर सा उड़ गया था। घबराया बैरा विनम्रता से दूसरी ट्रे लाने का वायदा करता छूट भागा—'हां तो तुम मुझे संगीत पर बोलने को कह रही थी' आश्चर्यजनक सहजता से उन्होंने फिर से छूटा सूत्र सहेज लिया। 'रिकाड करोगी क्या?' उन्होंने झोले में रखे टेपरिकाडर की तरफ इशारा किया। मैं सिटपिटाई—जी लाई तो थी पर मुझे लिखने से ज्यादा भरोसा रहता है छोर पकड़ पाने का—टेप से कुछ, बिल्कुल सही है एक तो आदमी चौकन्ना ज्याद हो जाता है। अजीब बात है कि मेरी बात जब जब टेप कर ली गई—टेप गड़बड़ा गया या कोई मशीनी नुक्स आने से मशीन ठप हो गई। रिस्क लेना चाहो तो कर लो'—वे बच्चो की सी शरारती हंसी हंसी। कहीं बर्फ पिघल रही थी। एक सहजता, एक बहाव आ चला था। एक बात और वे बोली 'मुझसे बात दोहराने को मत कहना, यह जो मैं बोल रही हूं न, मेरी बात सीधे मेरे अंततम से आ रही है समझी—स्टेट फ्राम माय हाट—यह मैं अपने संगीत की ही तरह दोहराऊंगी नहीं यह हर बार नहीं होता, पर इस वक्त है। अपनी तर्जनी माथे के बीच टिका कर वे ध्यानस्थ हुईं, यह उनकी चिर परिचित मुद्रा है। ध्यान की तन्मयता एकाग्रता का उत्कट प्रयास। ' कला माने सजना—माने एक प्रक्रिया। मानती हो? तो मेरे लिए बहन यह प्रतिक्रिया मेरी कलाकार की वैयक्तिक चीज ही नहीं, यह इस सृष्टि भर के मूल से जुड़ी हुई है। एक चरम सत्य है जिसे हम देख तो नहीं पाते, पर वह है। यह हमारे भीतर एक पक्का भरोसा है—और सारी कला ही क्यो सृजनात्मकता चाहे वह कलाकार की हो या एक वैज्ञानिक की उसी सत्य की तलाश की प्रक्रिया है। एक विराट क्षेत्र है जहां अपने-अपने

बिंदु पर हम सब खडे है—समष्टी ? जैसे एक विराट स्टेडियम हो—मेरा बिंदु है सगीत—तुम्हारा लिखना किसी चित्रकार का चित्रकला—और हम महसूस करते हैं—बहुत गहराई से अपने भीतर महसूस करते हैं एक 'अज' एव 'उफान' उस चरम सत्य को जा पाने की—और वही 'प्रोग्रेशन' हमारी कला साधना है—कठिन ?

बेहद । तुम भी तो औरत हो, कलाकार हो । जानती हो कि सृजन की यह तकलीफ यह तनाव क्या चीज होती है । बहुत-बहुत गहरी तकलीफ पाई है मैंने बहुत यहा । वे अपने कलेजे की तरफ इशारा करती हैं—'इतनी कि कई बार तो अचरज होता है कि इतना दद भी झेला जा सकता है क्या ?' उनकी आखें भर आती है—भीतर और भीतर अदर की किन्ही काली घाटियो मे अतीत पर पखी-सी मडराती हुई—'खैर छोडो यह अभी—साधना के रास्ते की बात हो रही थी न ? एक क्रमश सकरा होता जाता रास्ता है यह। जिसे कहेगे अग्रेजी मे—'एटेपरिंग ट्रैक' । वे अपनी लबी सवेदनशील उगलियो को जोडकर एक त्रिकोण बनाती हैं । 'देख रही हो न आधार का फैलाव ? पर ऊपर आकर सब भाग उसी बिंदु पर मिलते हैं, और जानती हो उस साक्षात्कार के चरम बिंदु पर जाकर कला कला नही रहती, तुम्हारा विज्ञान विज्ञान नही भौतिकी भौतिकी नही—सब एक हो जाते हैं—विशुद्ध आनद का एक फैलाव है । हर चीज ।' उनका गला आवेग से भर आया है । कुछ देर चुप्पी—'पर नही हम कलाकार वहा अटके नही रहते । एक योगी एक ऋषि यहा लीन हो जाता है पर हम उसे कला मे छूकर भी वापस लौटते हैं, फिर फिर जहा हमारी कला के भौतिक आयाम हैं, श्रोता और पाठक हैं और दद है । वे आखें मूदकर काफी की कडवी चुस्की लेती हैं फिर रख देती हैं—'इटस कोल्ड । आय डिस्लाइक कोल्ड थिग्स ।'

'हा तो बात कला की हो रही थी—मैं तकनीकी बातो मे बहुत उलझने मे विश्वास नही करती । मूल वस्तु है रस ! इसकी निष्पत्ति ! अरे वही नही हुआ तो सब व्यथ है कि क्या स्वर लगाए या नही लगाए — यानी आप जो परपरा के नाम से आज सगीत मे चल रहा है उस पर ज्यादा विश्वास ?'

'नही करती । जरा सोचकर देखो कि क्या है यह हमारी आज की परपरा ? दो है ! दो हैं परपराए मेरे लिए । एक तो वह आदि परपरा जब ऋषियो ने एकात मे बैठकर ईश्वर की मधुरा भक्ति मे प्रेरित होकर सगीत का सृजन किया । वह है परपरा का विशुद्धतम रूप जो एक विदेही शक्ति के प्रति विदेही भावना का परिष्कृततम रूप है—फिर बाहरी लोग आए सगीत कला भौतिकता से, भौतिक लोगो—राजा, प्रियतम आदि से बधी—मूर्तिपूजा मग्न हुई और सगीत नश्वरता से जुडता गया ।'

'पर नश्वर के प्रति प्रेम भी तो अपने, उदात्ततम रूप मे अनश्वरता पा लेता है—नही ?'

नही। मनुष्य के प्रति प्रेम कितना ही उदात्त हो—मानवीय सबधो की। भौतिक छाप उस पर रहगी ही। कोई माने न माने, वह जो ओरिजिनल सौंदय था न शुद्ध सगीत का—वह चला गया।'

'और जो है वह सेकड बैस्ट है ? दोयम दर्जे का ? यही कह लो ! अब खैर जो चला गया सच पूछो तो उसको तो हम पूरा जान भी नही पाएगे कि कितना सुदर, कितना समृद्ध वह था अब ना जो है हम उसी से कलाकार के रूप म कला के माध्यम मे जुडे ह, और बस इतना कह सकते हैं कि ज्यो ज्या कला निखरती है, शुद्धतर रूप को प्राप्त होनी है—यह अलकरण यह मुरकिया यह दानेदार तानो की झडिया, गमकें खटके—सब एक एक कर छूटते चले जाते ह सिफ स्वर रह जाता है। अकेला और विराट। अब कभी मैं घटो सिफ कोमल—रे पर ही ध्यान केंद्रित करती हू तो लगता है कितना विराट, कितना उदात्त है हर स्वर अपने विशुद्ध अकेलेपन मे ! और कितना कम हम उसे जानते है दरअसल ! जानती हा, एक बार मैं गा रही थी, मेरा साधना कक्ष एकदम सफेद है, अचानक पूरा कमरा एक विचित्र नीली लौ से भर गया। ऐसा गह्वर उठा बहन कि बस चुप हो रही। दरअसल हम कितना कम जानते हैं अपने से जुडे इन रहस्यो को।'

जैसे कि जीवन ?'

'जैसे कि जीवन। आखिर बहन, इसी जीवन स ही तो हमारा सगीत उपजा है, और अतत उसका प्रभाव मानव हृदय पर ही पडता है। इसी से मैं बार-बार शास्त्र की दुहाई देने वाला से कहती हू कि सगीत के सिफ शिल्प और शिल्पगत चतुराई पर ही अटक जाना, सत्य से भटकना है। सबसे ऊपर सगीत का आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक सत्य है और यदि हममे सवेदना सही मात्रा मे विद्यमान है तो हम उन तत्त्वो के सामर्थ्य, गुण, सीमा, सब अतत देख पाएग।'

'आप सीमा मे फिर माध्यम की सीमा ही की बात कर रही है न ?'

हा वही। उस सीमा पर हमे विचार करना ही होगा तटस्थ और निमल भाव मे।'

यानी हर कला की शिल्पगत सीमा है यह आप मानती ह।'

हा कला की स्वाभाविकता का निवाह हर हालत म होना चाहिए। अब बतौर मुहावरे के मैं चाहे वह दू कि मैं स्वरा मे राग का चित्र खीच रही हू—पर स्वरा की सीमा है भावना—जो अमूत है अशरीर है। मै स्वरा से भावना का चरम रूप बता सकती हू जो भाव ग्राह्य है तुम्हे, पर मैं उसका एसा भौतिक चित्रण तो नही कर सकती जो तुम नेत्रा से देख पाओ। और यदि

मुझमे विवेक है तो यह चेष्टा करूगी भी नही। अब यही समझो कि मान लो मैं गा रही हू—'

'बागेश्री ?'—'ठीक, चलो बागेश्री गा रही हू—बदिश है—रे बिरहा न जरा मोरे जियरा का' यानी शब्द सबोधन है—किसे ? बिरहा का—बिरहा माने ? अब एक अमूत मानवीय भावना—अब इस विरह के वियोग पक्ष की व्यथा को मैं स्वरो से उभारती हू—पर अगर मैं पलटकर कहू कि भाई म बागेश्री गा रही हू, अब तुम्हे काला रग दीखेगा, तो बात गलत होगी, है कि नही ?'

पर आजकल कलाओ की जा आत्मनिभरता के बारे मे बहुत बाते की जा रही हैं और कहा जा रहा है कि एक अमूत चितेरा रगो से एक सिंफनी का चित्र भी बखूबी बना सकता है। उसके बारे मे क्या ख्याल है ?"

'नानसेंस। एकदम व्यथ चेष्टा है वह ! मैं अमूत चित्रण मे कतई विश्वास नही करती।'

'नही करती ?'

'ना ! एकदम नही। यह नही कहन कि मैं चित्रकला को नही समझती। मैं खुद भी पेंट करती हू, मेरा एक बेटा जे० जे० स्कूल मे आट की शिक्षा भी पा रहा है। पर उसमे भी मेरा इस बात पर मतभेद है। मैं कहती हू कि मूल तौर से चित्रकला शुद्ध 'प्लास्टिक आट' की एक शाखा है जिसके बिबो का दष्टिगत होना अनिवाय है। अब अगर आप दावा करें कि हम चाक्षुष के भी परे के भावनात्मक बिंब आपके सामने चक्षुगत आयाम मे उतारकर रख रहे है तो वह आपके दिमाग का निजी फितूर है—एक सावभौम रूप मे सप्रेषणीय सत्य नही। भावना का तीसरा आयाम एक दष्टिगत माध्यम को देने वाले आप कौन हैं ? जबकि आपका माध्यम पुकार-पुकारकर कह रहा है कि वह भौतिक दष्टिगत आयामा से ही जुडा है। अभी मैं एक अमरीकी पियानो वादिका को सुनने गई थी। बहुत अच्छा, बहुत सुघर सगीत था उसका—पर एक धुन के लिए उसने कहा कि यह कहलाएगी द ग्रासहापर' यानी टिड्डा—और वाली कि मैं सगीत स एक टिड्डे की परिकल्पना साकार कर रही हू—धुन अच्छी थी पर भाई मुझे स्वर तो अच्छे और चचल लगे पर वह टिड्डा नजर न आना था न आया। शायद उसने अपनी भावना पर जोर डालकर अपने मन म चित्र उतार लिया हो पर भाई जो चित्र आप पूरा श्रोता तक कम्युनिकेट न कर सक वह ता कला नही होगा, आपकी निजी पसद या कहिए कि परिकल्पना हो सकती है। अब सगीत मे मूल चीज है कम्युनिकेशन आफ ए फीलिंग—मैं बागश्री म स्वर लगाऊगी और विरह दु ख आपके कलेजे मे कसक उठेगा, यह हुआ भावनात्मक कम्युनिकेशन। आखिर हमारी कला क्या है वही जीवन का अनुभव जो इद्रियो से हमने अनुभव किया है, उसी का रेप्लीका' और चूकि वे अनुभव

सावधार्मिक, सावकालिक हैं इसलिए यदि सप्रेषण सच्चा है तो वह बात श्रोता तक पहुचेगी ही। मैं अभी भी श्रोताओ को दोष नही देती। उनकी परख हमेशा सच्ची होती है। नुक्स सप्रेषण म है या कलाकार म।'

'पर कभी-कभी कलात्मक अनुभूति का सटीक चित्रण उस वस्तु के भौतिक आकार और उसके भीतर की आत्मा स हमारा अधिक गहरा साक्षात्कार करा सकता है, यानी एक लाइन या बिंदु का विशेष अकन अपने भीतर एक पूरी गति और उस गति को जन्मने वाले आकार की याद बीज के रूप म रख तो सकता है न ?'

हा, पर मैं यह नही मानती कि इसी आधार पर आप एक सपूण चित्र बना सकते है। मान लो, एक कैनवस मेरे सामने है और उस पर कुछ-कुछ बनाकर कहू कि यह खरगोश का चित्र है—तो वास्तव म जो मैंने वहा बनाया है वह मेरे मन म जो खरगोश की फीलिंग है, मेरा एक निजी प्रक्षेप मात्र, वही तो ह। पूरा जीता जागता खरगोश का आकार तो नही। अगर मैं कहती हू वह खरगोश है तो उस जीव विशेष का अपना जो एक स्थूल आकार है, अपनी जातिगत विशेषताए ह जो उसे इस चराचर भौतिक दुनिया की एक इकाई बनाकर हमसे जोडती है उनका क्या हुआ ? कोई कला अपने माध्यम को तोड़-कर आग नही जा सकती।

'तो यही बात आप सगीत के लिए भी कहेगी ?'

बिलकुल। यह सच है कि सगीत मे हम मूत से धीरे धीरे अमूत की ओर बढते हैं पर सगीत का उत्स, उसके आदि और अत का बिंदु है मानव भावना, *जो कि स्वय अमूत है तो यहा यह अमूतता अनिवाय ही है*—पर वहा भी भावना चूकि स्थिति विशेष और व्यक्ति विशेष के पारस्परिक घात प्रतिघात से ही जन्म लेती है इसी से सगीत म भी हम पहले एक भौतिक तत्त्व यानी शब्दो का आश्रय लेते है—कि 'रे विरहा न जरा मारे जियरा को'—श्रोता पहली पक्ति स ही जान जाता है कि यह करुण रस है—शृगार रस का वियोग पक्ष उजागर करने वाला है—अब मैं उस भावना विशेष को और अधिक विशिष्ट बनाऊगी टुकडे टुकडे बदिश को गा कर—अब बात एकदम क्लियर' हो गई ? अब जाकर मैं सिफ स्वरो के माध्यम से उस भावना को तराश कर और अधिक नाजीला और अधिक मार्मिक बनाकर पेश करूगी—यही सबसे कठिन चुनौती है सगीतकार के लिए—अमूत स्वरा से एक अमूत भावना को मूत कर पाना, और यहा आप सारे शास्त्रीय नियमा को दूर हटाकर सिफ कला की आत्मा टटोलते हैं—अब यू बागेश्री म पचम बहुत अल्प लगता है। कई बार तो लगाते ही नही पर सारे स्वरो से लौट फिरकर जब म क्षणमात्र को पचम स्पश करूगी तो भभक कर उस राग की सारी करुणा स्पष्ट हो उठेगी क्षण भर को

ही पर होगा जो हम चरम बिंदु की बात कर रहे थे न, इटेंसिटी' की ? वह यही एक क्षणिक बिंदु है—एक चरम साक्षात्कार का क्षण जिसे छूकर फिर मैं पलटती हू—राग की ओर स्वरो की ओर श्रोताओ की ओर। उस बिंदु को छू कर लीन होना है मोक्ष प्राप्ति और उसे छू छूकर भौतिक आयामो म लौटना है और फिर उसे छूने को बढना यह हुई हमारी-तुम्हारी कला। यानी एक भावना से अभिव्यक्ति की दूरी का घटता जाता क्षेत्र। वहा तक जहा भावना और अभिव्यक्ति एकाकार हो उठें। और यहा भावना की गति का दबाव माध्यम का स्वरूप निर्धारित करेगा—इसका उल्टा नही होगा। अभी मैं पारपरिक गायकी के ढाचे से चिपके रहने के पक्ष म नही हू। क्या जरूरत है कि पहले अलाप, फिर मुखडा, फिर बढत—लयकारी फिर तान वगैरा का एक विराट तामझाम हर बार रचा जाए ? कई राग प्रकृत्या इतने गभीर है इतने टेजिक है कि उनम किसी भी तरह की चचलता अकल्पनीय है—अब दर-बारी ही ले लो—उसमे यह फजूल की उछल कूद क्या जचेगी ? पहली चीज है राग की मूलभावना—उसके प्रति सच्चे रहना जरूरी है। सच्ची भावना तो अपना क्रम खुद-ब-खुद बनाएगी। सिर्फ सतही और यश-लोलुप कलाकार इस सबसे परे नही जाएग—यदि तुम्ह सगीत के प्रति सच्चा लगाव और उत्सुकता है तो एक समय ऐसा आएगा ही जब यह बात तुम मानोगे। पहले मैं भी इन सबका समावेश अपनी गायकी म करती थी वाहवाही भी खूब पाई रियाज भी खूब किया पर अब ज्यो-ज्यो स्वरो की शुद्धता के प्रति उत्कठा बढती है त्यो-त्यो मैं अपनी गायकी से यह सब घटाती जा रही हू। मेरा सगीत एक अनवरत खोज है, एक तलाश, एक शोध प्रक्रिया—मैं सत नही हू बहन, और एक कलाकार और सत म बडा अतर है। हमारी कला का सत्य, जीवन का अतिम सत्य नही। हम कलाकार सत्य के आशिक साक्षात्कारो की कडी भर रचते ह पर वे बिंब आशिक है—उनका औचित्य कला मे ही है, और कहा नही अब तो बहुत लबी यात्रा कर ली, बहुत नाम कमा लिया अब मैं कला की कलात्मकता नही जीवन का सत्य पाना चाहती हू जो जीवन के सुख-दुख के परे है। एक विशुद्ध आनद का क्षेत्र है जहा कला नही, कलाकार नही जरूरत ही नही किसी भी चीज की। मैं जब यहा से जाऊ तो एक कलाकार की तरह नही एक निर्मल मनुष्य के रूप मे वहा जाना चाहती हू। मेरे छात्र ? उन्ह तो मैं स्थूलतर रूपो का प्रशिक्षण ही द सकती हू। दूगी भी। क्योकि हमारा शरीर है, शारीरिक भौतिक जिम्मेदारिया है—पर यह सत्य की ओर की यात्रा अनत हर कलाकार अकेले ही करता है जैसे मृत्यु की ओर जसे प्यार की ओर की भी और इसमे अपना पाथेय हमी हैं बहन और कोई नही—'आयम ॲ स्टूडेंट माय सैल्फ यू ना।'
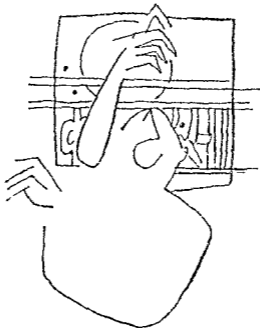
अर्थध्वनि और स्वरलिपि

ज्यां पाल सार्त्र से लूसिया मेलमा की बातचीत

ज्यां पाल सार्त्र एक साहित्य चिंतक हैं जो न केवल फ्रांसीसी साहित्य, बल्कि विश्व साहित्य म भी कोई चौथाई सदी तक एक तरह म छाये रहे। सार्त्र का अस्तित्ववाद दूसरे विश्वयुद्ध के बाद प्राय बहस के केंद्र मे रहा। उन्होने कई उपन्यास और नाटक लिखे जिनम नाउ सी एड दि ट्रिलाजी, दि रोड्स टु फ्रीडम (उपन्यास), हुई क्लास, क्राइम पेशनल, कीन एड एल्टोना (नाटक), पॉलिटिक्स एड लिटरेचर (निबध और बातचीत) काफी चर्चित रहे। आपकी कुछ कृतियों पर गोदार जैसे शीर्ष स्थानीय फिल्मकारो ने फिल्मे भी बनाई। ज्यां फ्लादगारो फ्रांसीसी लेखक समीक्षक। 'ल पाइट गाबिस' 'रिव्यू द एस्थेटिक' आदि महत्त्व की पत्रिकाओ के प्राय नियमित लेखक।

☙

मूनिया मेलसां ने न केवल अनेक महत्त्वपूर्ण चिंतको-कलाकारों से इटरव्यू किये हैं बल्कि उनके जरिये अनेक नयी बहसो के सिलसिले भी शुरू किये हैं। वे ग्रंथ पर्यालोचना के क्षेत्र म सक्रिय हैं।

ा संगीत से लगातार संपर्क बनाए रखा तब तक, जब तक मेरी ान्नी देने लगी। इसके बाद मेरे लिए संगीत से नाता बनाए रखना ा। और एक दिन मेरी आखों में धुंधलापन छा गया और मैंने र दिया।

ा कभी आपकी आशु रचना करने की तबीयत हुई ?

ा मैंने एक तराना तक लिख डाला, जो बाद में गुम गया। क्या ा था या बुरा। शायद अच्छा नहीं था।

ो नियमित रूप से कंसर्ट सुनने जाते थे, है न ?

ं पसंद आता था, मैं लगभग वह सब कुछ सुनने जाता था दवूस या शोनबर्ग। मैं कभी-कभी डोमा म्युजिकल कंसर्ट ौर वर्वन मुझे बहुत अच्छे लगते थे। लेकिन उनके उत्तर- ागत थे।

ज्यां पाल सार्त्र ऐसे साहित्य चिंतक है जो न केवल फ्रांसीसी साहित्य, बल्कि विश्व साहित्य में भी कोई चौथाई सदी तक एक तरह से छाये रहे। सार्त्र का अस्तित्ववाद दूसरे विश्वयुद्ध के बाद प्रायः बहस के केंद्र में रहा। उन्होंने कई उपन्यास और नाटक लिखे जिनमें **नाउ सी एंड दि ट्रिलाजी, दि रोड्स टु फ्रीडम** (उपन्यास) **हुईं क्लास, क्राइम पेशनल, कौन एंड एल्टोना** (नाटक), **पालिटिक्स एंड लिटरेचर** (निबंध और बातचीत) काफी चर्चित रहे। आपकी कुछ कृतियों पर **गोदार** जैसे शीर्ष स्थानीय फिल्मकारों ने फिल्म भी बनाई। **ज्यां क्लादगारो** फ्रांसीसी लेखक समीक्षक। ल पाइंट गार्बिस, 'रिव्यू द एस्थेटिक' आदि महत्त्व की पत्रिकाओं के प्रायः नियमित लेखक।

⁂

लूसिया सेलमां ने न केवल अनेक महत्त्वपूर्ण चिंतकों-कलाकारों से इंटरव्यू किये हैं बल्कि उनके जरिये अनेक नयी बहसों के सिलसिले भी शुरू किये हैं। वे समय समालोचना के क्षेत्र में सक्रिय हैं।

ज्यापाल सात्र ने सगीत के विषय मे (इस साक्षात्कार के पहले) लगभग कुछ नहीं कहा है। यद्यपि उनके उपन्यासो और लेखो मे इसका उल्लेख आता है, कभी कभी महत्वपूर्ण रूप म। उदाहरण के लिए 'नौसिया' मे एन्टाइन राके-न्टिन को, जो इस उपन्यास का प्रमुख पात्र है, जीवन की अनिश्चितता के विरुद्ध कला की आवश्यकता उस वक्त महसूस हाती है जब वह सोफिया टक्कर को, जिसे वह अश्वेत स्त्री समझने की गलती करता है, एक गाना 'सम ऑफ दीस डेज़' गाते सुनता है। 'द इमैजिनरी' मे सात्र बेटोवन' सातवें का उपयोग अपने इस तर्क की पुष्टि के लिए करते है जिसमे वह कहता है कि सौंदय सबधी चिंतन एक पैदा किये गये स्वप्न की तरह है। इस तर्क के सिलसिले म सात्र यह भी कहते है कि कला उस हालत मे भी जब वह किसी वर्तमान चीज का अभिव्यक्त कर रही हो, अपने विषय द्वारा यथार्थच्युत कर दी जाती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सात्र ने जाज सगीत म फिर से रुचि लेना शुरू किया और अमेरिका म उन्होने 'निक के बार' पर एक निमम आलोचनात्मक लेख लिखा जो जितना विख्यात है उतना ही अप्राप्य भी है। शायद सात्र की यह एकमात्र ऐसी रचना है जिसमे उन्होने एक खास तरह के सगीत के बार म अपनी अनुभूति का वणन किया है।

तब से सात्र ने रेने लेवोविज की पुस्तक 'आर्टिस्ट एण्ड हिज कान्शेन्स' की भूमिका लिखने के अलावा सगीत पर कुछ नही कहा है। इस भूमिका म वह अर्थ की समस्या पर चर्चा करते है, जैसा इसके पहले उन्होने अपनी एक पुस्तक 'Quest ce que la Literature' के 'Quest ce Quecrire 3' नामक अध्याय मे किया था। फ्रेंच दार्शनिक मारिस मर्लो पाती की तरह सात्र भी सगीत की औपचारिक अवधारणा के विरुद्ध हैं।

वह विशुद्ध ध्वनि के ख्याल को एक गुमराह करने वाला ख्याल समझते हैं हालाकि ध्वनिया म प्रफुल्लता, सकोचशील उदासी और दूसरी तरह की भाव-

ज्यां पाल सार्त्र ऐसे साहित्य चितक है जो न केवल फ्रांसीसी साहित्य, बल्कि विश्व साहित्य म भी कोई चौथाई सदी तक एक तरह से छाये रहे। सार्त्र का अस्तित्ववाद दूसरे विश्वयुद्ध के बाद प्राय बहस के केंद्र म रहा। उन्होंने कई उपन्यास और नाटक लिखे जिनमे नाउ सी एड दि ट्रिलाजी, दि रोडस टु फ्रीडम (उपन्यास), हुई क्लास, क्राइम पेशनल, कीन एड एंटोना (नाटक), पालिटिक्स एड लिटरेचर (निबंध और बातचीत) काफी चर्चित रहे। आपकी कुछ कृतियों पर गोदार जैसे शीर्ष स्थानीय फिल्मकारों ने फिल्म भी बनाई। ज्यां क्लादगारो फ्रांसीसी लेखक-समीक्षक। 'ल पाइंट गाविग' रिव्यू द एस्थेटिक आदि महत्त्व की पत्रिकाओं के प्राय नियमित लेखक।

❂

लूमिया मेलसा ने न केवल अनेक महत्त्वपूर्ण चितकों-कलाकारों से इंटरव्यू किये हैं बल्कि उनके जरिये अनेक नयी बहसों के सिलसिले भी शुरू किये हैं। वे स्वयं कलालोचना के क्षेत्र में सक्रिय हैं।

इस तरह मैंने सगीत से लगातार सपर्क बनाए रखा तब तक, जब तक मेरी आखें जवाब नही देने लगीं। इसके बाद मेरे लिए सगीत से नाता बनाए रखना सभव नही रहा और एक दिन मेरी आखो म धुधलापन छा गया और मैंने बजाना बद कर दिया।

क्या कभी आपकी आशु रचना करने की तबीयत हुई ?

हा। एक बार तो मैंने एक तराना तक लिख डाला, जो बाद म गुम गया। क्या मालूम यह अच्छा था या बुरा। शायद अच्छा नही था।

आप तो नियमित रूप से कसट सुनने जाते थे, है न ?

हा। जो कुछ भी मुझे पसद आता था, मैं लगभग वह सब कुछ सुनने जाता था चाहे बेटोवन हो या दबूस या शोनबर्ग। मैं कभी-कभी डोमा म्युजिकल कसट भी जाता था। बग और वबन मुझे बहुत अच्छे लगते थे। लेकिन उनके उत्तर वर्ती कुछ कम अच्छे लगते थे।

आप जाज के शौकीन भी तो थे। सन १९४६ मे आपने 'अमेरिका' (एक पत्रिका) मे निक के बार पर जो लेख लिखा था उसमे मेरी समझ मे आपने जाज सगीत को किस तरह सुनना चाहिए इस पर बडी स्वस्थ सलाह दी थी। आपने कहा था कि इस सगीत का आनद बिना आडबर के लेना चाहिए।

बेशक।

लोगो का ख्याल है कि सन् १९४४ मे पेरिस की मुक्ति के बाद आप जाज के क्लबो मे अपना काफी समय बिताते थे। हालाकि लोग इस बात को काफी बढा-चढाकर कहते थे ?

दरअसल बहुत बढा चढाकर। मैं जाज क्लबो मे शायद ही कभी जाता था।

आपके बारे मे जो तमाम काल्पनिक बातें उडाई जाती ह, यह इन्हीं में से एक होगी ?

हा। वास्तव म मैं वहा कभी नही रहता था जहा लोग कहते थे।

पसे के लिए कलम चलाने वाले पत्रकारो के लिए तो ज्या पाल सात्र और सेंट-जरमेन दे प्रे मे पेश किया जाने वाला जाज सगीत दोनो एक ही चीजें थीं लेकिन आप इस सगीत के रेकाड तो सुनते थे ?

नाए पैदा करने की क्षमता रहती है ।

सात्र के इस प्रकार के कथन सुविदित है । लेकिन यह बात कम ही लोग जानते हैं कि सात्र नियमित रूप म सगीत सुनते और बजाते हैं । ऐसा वे बहुत छोटी उम्र स कर रहे है । यह बात उन्होने १९७५ मे माइकेल काट द्वारा उन पर बनाई गई फिल्म 'सेल्फ पार्ट्रेट एट 70 म उदघाटित की थी । लूसिया मेलमा को दिए गए इस साक्षात्कार मे सात्र इस विषय पर विस्तार से चर्चा करते है ।

●●

माइकेल काटे ने आप पर जो फिल्म बनाई थी, उसमे आपने पहली बार इस बात का उल्लेख किया था कि सगीत आपके जीवन मे एक महत्त्वपूण चीज है। यह बात पहले सिफ आपके निकट के मित्रो को ही मालूम थी ।

हा दरअसल इसीलिए मैं अपनी कृतियो मे सगीत का शायद ही कभी उल्लेख करता हू । सगीत से मेरा सबध व्यक्तिगत सा है । मैं जब बहुत छोटी उम्र का था, तभी मुझे पियानो बजाना सिखाया गया था । बाद म पियानो मे मेरी दिलचस्पी खत्म हो गई और मैंने उसे सीखना बद कर दिया । लेकिन बारह साल की उम्र होने पर फिर बजाना शुरू किया या तो अकेले ही या अपनी मा के साथ । मुझे स्वरो का पढना अभी भी आता था लेकिन मैं अपनी उग-लियो का इस्तेमाल नही कर सकता था, जो मैंने धीरे-धीरे पक्की तौर से फिर से सीखा, पहले सरल रचनाओ को बजाकर फिर धीरे धीरे ज्यादा मुश्किल रचनाओ के माध्यम से । अठारह साल की उम्र तक पहुचने पर मैं शूमा, चोपिन बाग मोजट और बेटोवन की रचनाए काफी अच्छी तरह बजा लेता था । मैं इनकी कठिन रचनाए भी बजाता था हालाकि काफी गलत सलत ढग से । मैं कम से कम स्वर लिपि तो अच्छी तरह पढ ही लेता था । तो सगीत से मेरा सबध एक तरह से व्यक्तिगत था और मैं नही चाहता था कि कोई मुझे बजाते हुए सुने । मैं यह एहतियात बरतता था कि कोई मुझे बजाते हुए सुन न ले, ऐसा मैं पसठ साल तक करता रहा । इस उम्र मे आकर मेरी आखो की रोशनी कम होने लगी । इसके पहले मैं हमेशा दिन म दो से चार घटे तक पियानो बजाया करता था, बजाने मे महारत हासिल करने के लिए नही बल्कि नया सगीत और नये सगीतज्ञो के बारे मे जानकारी प्राप्त करने के लिए । मैं स्वर लिपि बगल म रख लेता था और पियानो पर इसे बजाता था । धुन को मैं जल्दी पकड लेता था और सम स्वरो के समूह का भी मुझे काफी ज्ञान था।

इस तरह मैंने सगीत से लगातार सपर्क बनाए रखा तब तक, जब तक मेरी आँखें जवाब नही देने लगीं। इसके बाद मेरे लिए सगीत से नाता बनाए रखना सभव नही रहा और एक दिन मेरी आखो मे धुधलापन छा गया और मैंने बजाना बद कर दिया।

क्या कभी आपकी आशु रचना करने की तबीयत हुई ?

हा। एक बार तो मैंने एक तराना तक लिख डाला, जो बाद म गुम गया। क्या मालूम यह अच्छा था या बुरा। शायद अच्छा नही था।

आप तो नियमित रूप से कसर्ट सुनने जाते थे, हैं न ?

हा। जो कुछ भी मुझे पसद आता था, मैं लगभग वह सब कुछ सुनने जाता था चाहे बेटोवन हो या दबूसे या शोनबर्ग। मैं कभी कभी डोमा म्युजिकल कसर्ट भी जाता था। बर्ग और वेबन मुझे बहुत अच्छे लगते थे। लेकिन उनके उत्तरवर्ती कुछ कम अच्छे लगते थे।

> **आप जाज के शौकीन भी तो थे। सन १९४६ मे आपने 'अमेरिका' (एक पत्रिका) मे निक के बारे पर जो लेख लिखा था उसमे मेरी समझ मे आपने जाज सगीत का किस तरह सुनना चाहिए इस पर बडी स्वस्थ सलाह दी थी। आपने कहा था कि इस सगीत का आनद बिना आडबर के लेना चाहिए।**

बेशक।

> **लोगो का ख्याल है कि सन १९४४ मे पेरिस की मुक्ति के बाद आप जाज के क्लबो मे अपना काफी समय बिताते थे। हालांकि लोग इस बात को काफी बढा-चढाकर कहते थे ?**

दरअसल बहुत बढा चढाकर। मैं जाज क्लबो मे शायद ही कभी जाता था।

> **आपके बारे मे जो तमाम काल्पनिक बातें उडाई जाती हैं, यह इन्हीं मे से एक होगी ?**

हा। वास्तव म मैं वहा कभी नही रहता था जहा लोग कहते थे।

> **पैसे के लिए कलम चलाने वाले पत्रकारों के लिए तो ज्यां पाल सार्त्र और सेंट-जरमेन-दे प्रे मे पेश किया जाने वाला जाज सगीत दोनों एक ही चीजें थीं लेकिन आप इस सगीत के रेकार्ड तो सुनते थे ?**

हा, लगातार सुनता था, हालांकि मैं इसके बारे में ज्यादा नहीं जानता था। बोरिश व्हायन और उनकी पत्नी मेरे बजाय इसके ज्यादा जानकार थे। मैं ज्यादातर उनके घर पर रिकाड सुना करता था।

आजकल आप क्या सुनते हैं ?

अब मेरे पास रिकाड प्लेयर नहीं है या मेरा रिकाड प्लेयर सामन द वाउवा के घर पर है। और चूंकि मैं घर से उतना नहीं निकल पाता हू जितना पहले निकलता था इसलिए अब मैं उसके घर कम ही पहुच पाता हू। लेकिन मेरे पास रेडियो रिसिव्हर है जिस पर मैं फ्रास म्यूज़िके द्वारा प्रसारित किये जाने वाले सगीत को सुनता हू। इस रेडियो के प्रोग्राम अजीब होते है। इनका स्तर इन्हे पेश करने वाले पर निभर करता है। यह घटता-बढता रहता है। कभी अच्छा कभी बुरा।

इस वक्त आपकी राय क्या है, इन प्रोग्रामो के बारे मे ?

बहुत खराब।

क्यो ?

जरूरत से ज्यादा पाप सगीत प्रसारित किया जाता है। जाज़ सगीत की मात्रा भी बहुत ज्यादा है, मेरी समझ म जरूरत ज्यादा है। मैं यह नहीं कहता कि जाज़ बिल्कुल नहीं बजाया जाना चाहिए। बल्कि मैं तो कहूगा कि यह सगीत जरूर प्रसारित किया जाना चाहिए। लेकिन गडबड बात यह है कि अक्सर यह सगीत बेहिसाब तादाद मे और वह भी बिना ठीक से चुनाव किए प्रसारित किया जाता है। मेरा मतलब खास तौर से उस मेगजीन फीचर से है जो रोज शाम होते ही बजने लगता है। कभी कभी यह दिलचस्प होता है, लेकिन ज्यादातर घटिया। हालाकि मुझे नये सगीत मे मजा आता है, लेकिन मेरा ख्याल है कि यह (फ्रास म्युजिके) अपनी भूमिका ठीक से नहीं निभाता। इसे चाहिए कि सबसे अच्छे सगीतज्ञो को पेश करें। फ्रास म्युजिके ऐसा नहीं करता। चाहे जाज सगीत हो चाहे शास्त्रीय यह ऊचे पाये के कलाकारो को बहुधा पेश नहीं करता।

इस स्टेशन का प्रोग्राम कट्रोलर तो मेरी समझ मे जरूर आपकी आलोचना का जवाब देगा और इस बात का दावा करेगा कि निर्विवाद रूप से बढिया सगीत, खास तौर से शास्त्रीय सगीत जिसकी आप बात करते हैं, पेश किया जाता है और प्रसारण का अधिकाश समय उसी तरह के सगीत पर खर्च होता है।

मानना हू । फिर भी मेरी राय म फ्रास म्युजिके मे वह बात नही है जो होनी चाहिए । और मेरी इस राय से हर आदमी सहमत है । बेशक, मुझे जिस तरह का शास्त्रीय सगीत पसद है, वैसा फ्रास म्युजिके द्वारा प्रसारित किया जाता है, दूसरी तरह के सगीत से कही ज्यादा तादाद म । लेकिन इस स्टेशन का दृष्टिकोण अनिवार्य रूप न बदलना चाहिए, अगर आप चाहते हैं कि रेडियो खोलने पर आपको अलग अलग सगीत सुनन को मिले ।

शायद आपका मतलब पॉप या जाज सगीत से है । मैं खुद इन दोनो प्रकार के सगीतो मे फर्क करता हू ?

मैं भी फर्क करता हू । मैं जाज पसद करता हू । दूसरी ओर मैं पाप सगीत को, एकाध अपवादो को छोडकर सगीत ही नही मानता ।

रेडियो स्टेशन मे लोक-सगीत और गैर-यूरोपीय सगीत सुनने के लिए स्लाट सिस्टम भी है । क्या आपको समझ मे यह ठीक नहीं है ?

बिल्कुल नही । मैं यह जानने के लिए उत्सुक हू कि यूरोपीय और गैर यूरोपीय सगीतो को एक-दूसरे के मुकाबले खडा करने स क्या कोई एकदम नयी चीज मालूम हो सकती है । असली समस्या तो उनके बीच एक समान कोड खोजने की है । मुझे खुद भारतीय और चीनी सगीत मत्र मुग्ध कर देता है । इस सिलसिले म यह बात कहने लायक है कि हाल ही म पेरिस म हुई एक प्रतियोगिता म सात मे से छ इनाम जापानियो ने जीते । इस तरह पूर्व के देशो के स्त्री-पुरुष दोनो ही आजकल नियमित रूप से यूरोपीय सगीत बजाते ह, बिना अपने देश के सगीत से मुह मोडे । कोई वजह नही है कि यूरोप के लोग भी दूसरे देशो का सगीत न बजावें । लेकिन यह कौन कह सकता है कि अतत कई प्रकार के सगीतो म एक समन्वित सबध नही पैदा हो जाएगा । अभी तो इस बारे मे कुछ कहना सभव नही है । लेकिन यह बडे अफसोस की बात है कि फ्रास-म्युजिके को सुनने वालो मे से कम ही लोग इस तरह का गैर-यूरोपीय सगीत सुन पाते है ।

हा, तो इस रेडियो स्टेशन के बारे मे जिस बात से मुझे सबसे ज्यादा चिढ है वह इसका तथाकथित नया सगीत है जिसके अस्पष्ट अश हवा मे बेसिलसिलेवार बहते रहते हैं । यह हर वक्त इस तरह बजाया जाता है और इसका इस तरह शोर मचाया जाता है जैसे हमारे सवेदना पर इस तरह आघात करने से कोई बडी उपलब्धि हो जाएगी, जबकि हकीकत मे यह बिल्कुल बेमानी है । सवेदना पर सिर्फ आघात करना ही काफी नही है । आपको मालूम होना चाहिए कि आप ऐसा क्या कर रहे हैं और ऐसा करने का सही तरीका क्या है ।

इस तरह का संगीत श्रोता को उलझन में डाल देता है, खास तौर से एक युवा श्रोता को जिसकी शायद इस मामले में कुछ अन्वेषण करने की इच्छा हो।

लेकिन फास म्युजिके ऐसा करने के बजाय अपने श्रोता को उपभोक्ता समाज के (सस्ते) माल की ओर प्रेरित करता है। जो लोग इस वक्त प्रोग्रामों के इंचार्ज हैं वे असली संगीत के सिद्धांतों को तभी भूल चुके थे जब उन्होंने अपना कार्यभार संभाला था। उन्हें इस बात का ख्याल ही नहीं रह गया कि संगीत उन श्रोताओं के लिए प्रसारित किया जाना चाहिए जो असली संगीत के शौकीन हैं।

> (उलटे) मेरी समझ में तो इन लोगों (प्रोग्राम बनाने वालों) ने नयी पसंद के श्रोताओं के लिए भी संगीत प्रसारित करने की कोशिश की है, बगैर उन लोगों की पसंद को नजरअंदाज किये, जिनका आप जिक्र कर रहे हैं।

आपका कहना सच हो सकता है। लेकिन अगर ऐसी कोशिश की गई है तो बिना पहले यह मालूम किए कि ये नयी पसंद के श्रोता कौन हैं। और मेरे ख्याल से तो इन नये श्रोताओं का कोई भला नहीं हुआ।

> उपलब्ध जानकारी से तो यही पता लगता है कि आज पहले से कहीं ज्यादा लोग फ्रास म्यूजिके सुनते हैं ?

आजकल रायशुमारी की इतनी भरमार है कि मैं इस तरह से प्राप्त हुए नतीजों को कोई महत्त्व नहीं देता। संगीत सुनने वालों की संख्या में कुछ वृद्धि हुई है, लेकिन फ्रास म्युजिके के नये श्रोताओं में अधिकांश वे लोग हैं जो किसी भी तरह की ध्वनि के निरंतर प्रवाह को सुनकर ही खुश हो जाते हैं। इन रेडियो स्टेशन के नये प्रोग्राम बनाने वालों को—भविष्य में नये लोग आएंगे ही—इस समस्या का उचित समाधान खोजना ही होगा, जो मौजूदा हल से बेहतर होना चाहिए। मैं यह साफ कर देना चाहता हूं कि संगीत को लेकर किसी भी तरह की प्रतिक्रिया से मैं अपना नाम नहीं जोड़ना चाहता। मैं तो समकालीन कृतियों के अधिक-से-अधिक प्रसारित किए जाने के पक्ष में हूं लेकिन मैं ऐसा किए जाने के मौजूदा बेढंगे तरीके को स्वीकार नहीं कर सकता जिसके तहत रचनाओं का ऊटपटांग चुनाव किया जाता है।

> आपकी राय में, असंतुष्ट श्रोता निराश होकर व्यावसायिक संगीत की ओर मुड़ जाएगा, इस तरह का संगीत जो तथाकथित लोकप्रिय रेडियो स्टेशनों द्वारा रुपये में सोलह आने बजाया जाता है और

जो 'सास्कृतिक' कार्यक्रमो के अतर्गत प्रसारित नही किया जाता ?

हा। कोई भी आम आदमी दिलचस्प मजमूनो को पढ सकता है और उनमे डूब सकता है। हर आदमी नही तो कम से कम ९८ फीसदी आदमियो के बारे में मैं यह कह सकता हू। लेकिन यही लोग आम तौर से उस भयानक व्यावसायिक कचरे के अलावा और कुछ नही सुनते, हालाकि वे यह मजूर करते हैं कि उन्हें अक्सर बडी ऊब होती है। अपनी सास्कृतिक विपन्नता के कारण और सगीत के प्रति जिज्ञासा के अभाव की वजह से भी ये लोग शाश्वत अप्रबुद्धता का दड भोगते है। आप मेरी इस बात पर ध्यान दीजिए कि भयानक रूप से घटिया सगीत का भी दुनिया मे अस्तित्व है और कला का इस तरह से गला घोटा जाना एक सामान्य बात है। मेरे ख्याल से ऐसा जमाना कभी नही आया जब लोग सिर्फ असली साहित्य ही पढते थे और असली सगीत ही बजाया जाता था।

'दि रिपब्लिक' मे प्लेटो ने सगीत और समाज के बीच के सबध की बात की है। आपके विचार से क्या जनता के सगीत और बूर्ज्वा वर्ग के सगीत के बीच भेद करना चाहिए और बजाय एक के दूसरा सगीत प्रस्तुत किया जाना चाहिए ?

यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अगर इन शब्दो के आशय के बारे मे दो राय न हो, तो मैं नही सोचता कि कोई एक इस तरह का समाज होता है जिसके लिए बूर्ज्वा सगीत होना चाहिए और किसी दूसरी तरह के समाज के लिए सर्वहारा सगीत। उल्टे, मैं यह महसूस करता हू कि किसी एक समाज के भीतर ही विभिन्न वर्गों की रुचियो और जायको म काफी अतर होता है। मजदूर वर्ग आम तौर से सगीत के प्रति कम सवेदनशील होता है और उसके पास सगीत के लिए अवसर भी कम होते हैं। लेकिन इसका मतलब यह नही है कि बूर्ज्वा वर्ग मे सगीत की परख या उसके प्रति दिलचस्पी मजदूर वर्ग से ज्यादा होती है। इसका मतलब बस इतना है कि इतिहास के एक खास दौर मे सगीत सुनने वालो मे बूर्ज्वाओ की सख्या मजदूरो से ज्यादा है। सगीत के आयोजन अक्सर नागरिक केंद्रों मे होते हैं जिनमे प्रवेश पाना खर्चीला होता है। इस वजह से बहुत कम मजदूर सगीत के प्रोग्रामो मे जाते हैं। जाज और पॉप सगीत ने किसी हद तक वर्ग-सीमाओ को तोडा है, लेकिन यह उदाहरण अकेला है।

क्या आपका ख्याल है कि आतरिक रूप से, या जो [illegible] पित करता है उसमें, सर्वहारा या बूर्ज्वा हो सकता है? [illegible]

[illegible]

राजनीतिक अन्याय या प्रगति को बढावा दे सकता है ?

जाहिर है कि समाज और सगीत म सबध होता है, पर मेरे ख्याल म ये दोनो चीजे तक-दूसरे का प्रतिबिंब नही ह, क्याकि अव्वल तो किसी समाज को भाषा के बिना ठीक से समझा ही नही जा सकता। उसे समझने के लिए शब्दा और वाक्या की एक श्रृखला आवश्यक होती है जो उसके विभिन्न ढाचा को स्पष्ट करती है। लेकिन शब्द और सगीत बिल्कुल अलग अलग चीज हैं। सगीत और शब्दो के सबध का अध्ययन करना ज्यादा उपयोगी हे बजाय समाज और सगीत के सबध का अध्ययन करने के। सवाल पैदा होता है कि एक गीत रचना के द्वारा समाज की जो तस्वीर पेश की जाती है वह शब्दा द्वारा पेश की जाने वाली तस्वीर से किस प्रकार भिन्न है। क्या सगीत एक शाब्दिक वणन से मिलती-जुलती चीज है जो कुछ जगहो मे कम सूक्ष्म और कम स्पष्ट हो और कुछ जगहा मे अधिक सूक्ष्म और अधिक स्पष्ट ? सगीत को भाषा से अलग मानते हुए क्या हम यह कह सकते हैं कि यह किसी दिए हुए समाज का प्रतीक है ?

सत्रहवी और अठारहवी शताब्दियो को समझने मे उस समय का सगीत, जो आज भी बजाया जाता है, अक्सर हमारी मदद करता है। इसका न सिफ एक सीधा कलात्मक मूल्य है, बल्कि एक अतीतदर्शी सूचनात्मक मूल्य भी है। उस जमाने के सगीत म सुरो और पदो को एक साथ रखकर सोनाटा या कसर्टो बनाने की कुछ ऐसी विधिया थी जिन्हे भाषा ता नही कहा जा सकता पर जो भाषा से मिलती जुलती हैं और सगीत को उसका अथ देती है।

इस तरह स बाख के सगीत म एक ऐसी प्रवत्ति के दशन होते है जो अभिजात वग पर विश्वास करती थी और निम्न वर्गों से कोई सरोकार नही रखती थी। बाख ने मुख्य रूप से बूर्ज्वा श्रोताओ के लिए ही सगीत-रचना की। अपने जीवन के उत्तराद्ध म उन्हे राजकुमारा से कोई आमदनी नही हुई बल्कि वह आजीविका के लिए बूज्वा चच पर ही आश्रित रह। इसके बावजूद वह *जिस समाज म रहे थे उसके अपने आरभिक अनुभवो को नही भूल सके।* यह समाज ऐसा था जिसम अभिजात वग का स्थान महत्त्वपूण था। सगीत इस वग के लिए लिखा जाता था और इस पर आश्रित था।

कुछ सगीतज्ञों के राजनीतिक बहिष्कार के बारे मे आपकी क्या राय है ?

मेरा मतलब खास तौर स बेटोवन मे है जिनके सगीत का पहले तो चीनी गणराज्य म निषेध कर दिया गया, लेकिन बाद म उसे तसलीम कर लिया गया।

बेटोवन का निषेध किये जाने के मूल में यह गलतफहमी थी कि उसका संगीत १८वीं शताब्दी के अंत और १९वीं शताब्दी के प्रारंभ की खिचड़ी थी। यह ख्याल बिल्कुल वाहियात था, क्योंकि बेटोवन का संगीत कालातीत है। उसका तंतु चतुर्वाद्य कोई ऐसी चीज नहीं थी जो १८वीं और १९वीं शताब्दियों की उथल पुथल से नष्ट हो सकती थी। बेटोवन का संगीत हमें अभी भी प्रभावित करता है। यह सही है कि यह संगीत अंततः अपने युग का संगीत है, परंतु यह उससे एक महानतर चीज भी है। यह उस जमाने की एक तटस्थ दृष्टि प्रस्तुत करता है। बेटोवन का कोई भी तराना १८वीं शताब्दी की अंदरूनी और बाहरी दोनों दृष्टियां हमारे सामने रखता है।

आपने एक बार सवाल किया था कि एक चित्रकार और संगीत-रचयिता से प्रतिबद्धता की उम्मीद कैसे की जा सकती है? अब आप जो बात कह रहे हैं उससे मालूम होता है कि इस तरह की प्रतिबद्धता को आप अभी भी असंभव मानते हैं?

हां, मैं ऐसा ही सोचता हूं। कम से कम अगर आप प्रतिबद्धता का मतलब समाज के प्रति एक सुनिश्चित और ठोस दायित्व समझते हैं। प्रतिबद्धता इस अर्थ में संभव है कि जीवन की या मनुष्य के अनुभवों की महान विषय-वस्तुओं को संगीत सांकेतिक रूप से प्रस्तुत कर सकता है। जैसे मनुष्य की नियति या मनुष्य जाति के ऊपर तराना लिखा जा सकता है, लेकिन फ्रांस की पांचवीं रिपब्लिक पर नहीं लिखा जा सकता।

संगीत के क्षेत्र में प्रतिबद्धता का प्रश्न एक उलझन भरी चीज है। क्या संगीत में कुछ व्यक्त करने की क्षमता है, या नहीं है? स्ट्राविंस्की का ख्याल था कि संगीत में ऐसी कोई क्षमता नहीं है, लेकिन मुझे लगता है कि संगीत हमेशा कुछ न कुछ अभिव्यक्त करता है। हां, कभी-कभी वह कुछ कहना चाहता है और कभी कभी कुछ नहीं कहना चाहता। संगीत की प्रतिबद्धता तभी प्रकट हो सकती है जब वह मनुष्य से मनुष्य के या मनुष्य से प्रकृति के संबंधों को व्यक्त करे या जीवन और मृत्यु जैसी बातों को अपना विषय बनाये। लेकिन संगीत किसी दिये हुए काल की सीमाओं के अंदर प्रतिबद्ध नहीं हो सकता। दूसरे शब्दों में यह पारंपरिक अर्थ में क्रांतिकारी नहीं हो सकता।

उदाहरण के लिए अगर आपको किसी संगीतकार का नाम नहीं मालूम है तो आप उसकी किसी रचना को सुनकर यह सोचने की भयंकर गलती कर सकते हैं कि यह एक पतनोन्मुख समाज से संबंधित प्रतिक्रियावादी रचना है जबकि वास्तव में वह एक क्रांतिकारी चीज हो। संगीत की ऐतिहासिकता कभी भी मंच से दिये भाषण की नहीं हो सकती।

क्या आप फ्रायड के इस कथन से सहमत हैं कि सगीत अतत उदात्तीकृत रूप मे प्रेम, विशेषकर यौन आनद, का अनुष्ठान है। दूसरे शब्दो मे क्या यह हमारी सुख की लालसा का मूल रूप है ?

मेरे विचार से सौंदर्यात्मक आनद की यह व्याख्या सही नही है। इसकी ठीक व्याख्या इसी आधार पर की जा सकती है कि यह आनद अपने आप मे क्या है। लगिक आनद का उदात्तीकृत रूप भी सौंदर्यात्मक आनद नही कहला सकता। सगीत एक अलग चीज है। यह सही है कि सगीत कुछ ऐसी अनुभूतिया उत्पन्न करता है जो यौनमूलक हो, लेकिन बेटोवन के नौवें तरान को सुनने से आपको जो आनद प्राप्त होता है वह यौन आनद नही है, उदात्तीकृत स्तर पर भी नही।

जाज़ के बारे मे आपका क्या कहना है ?

मैं अभी-अभी यह कहने जा रहा था कि जाज़ वास्तव मे एक ऐसा सगीत है जिसमे वासनात्मक और यौन तत्त्व बहुत अधिक मात्रा मे मौजूद है। लेकिन फ्रायड के अर्थो मे नही। दरअसल जाज़ का लगिक पक्ष प्रच्छन्न या उदात्तीकृत होने की बजाय सीधा, तात्कालिक और इद्रिय ग्राह्य है।

आपने एक बार कहा था कि अठारहवीं शताब्दी मे यूरोपीय कला के प्राण तक मे बसते थे और १८५० के बाद वहा की कला उन्माद से ग्रस्त हो गई। आपके अनुसार यदि इस जमाने का कलाकार सफल होना चाहता था तो यह जरूरी था कि वह मनस्ताप या मनोविकृति से ग्रस्त हो। लेकिन आपने यह भी कहा था 'विकृतिजन्य रचनाओ के बारे मे भी यह बात सही है, हालांकि भाषा के प्रतीको का प्रयोग करना इतना कठिन है कि इस तरह की रचनाए बहुत कम ही उच्च कोटि की हो सकती हैं।' इस सिलसिले मे आपने सगीत का जिक्र नहीं किया। क्या सगीत के क्षेत्र मे भी पागलपन उतनी ही बडी बाधा है, जितनी साहित्य के क्षेत्र मे ?

हा, मेरा एसा ही खयाल है। दरअसल ऐसी कोई नजीर नही है जब किसी महान सगीतज्ञ ने पागलपन की हालत मे सगीत रचना की हो।

लेकिन शूमा के बारे मे आपका क्या कहना है ? खास तौर से उसके जीवन के अतिम दिनो के बारे मे ?

हा मैं शूमा के बारे मे तो भूल गया था। लेकिन वह भी अपने जीवन के

बिल्कुल अंतिम दिनों में ही पागल हुआ था और अगर आप उसके संपूर्ण कृतित्व को देखें तो उसमें किसी प्रकार की मनोवृत्ति नहीं मिलेगी। कुछ लोगों ने उसके संगीत में विक्षिप्तता के क्षणों को खोजने का प्रयत्न किया है, लेकिन इसका कोई खास नतीजा नहीं निकला है। रैवेल भी अपने अंतिम दिनों में विक्षिप्त हो गया था, लेकिन अपने सक्रिय और रचनात्मक जीवन काल में उसका दिमाग पूरी तरह से दुरुस्त था। संगीत रचना का पागलपन से कोई संबंध नहीं है। यद्यपि आप एक ऐसी विषय-वस्तु की कल्पना कर सकते हैं जिसके विकास में कहीं-कहीं विक्षिप्ति हो, लेकिन अगर संगीत समकालिकता से अविच्छिन्न रहता है, या उसमें समकालिक तत्त्व विद्यमान हैं, तो उसकी संरचना में और उसके स्वरों के आपसी संबंधों में विवेक हमेशा रहेगा। एक सीमा तक बेसुरेपन से बचने के लिए विवेक अनिवार्य है।

दूसरे शब्दों में किसी संगीत रचना में कहीं-कहीं पागलपन का हल्का-सा पुट अनिवार्य रूप से हो सकता है, किंतु यदि रचना के ये (विक्षिप्तता-युक्त) अंश समकालिक बने रहते हैं तो वे सही मानों में विक्षिप्त नहीं कहे जा सकते। इस तरह संगीत की एक रचना विक्षिप्तता के दोष से मुक्त रहकर भी विक्षिप्ति की अवस्था को व्यक्त कर सकती है। साहित्य के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। पागलपन के बारे में काफी बातें की जाती हैं, लेकिन पागल लेखकों की संख्या नहीं के बराबर है।

आप तथाकथित 'स्वरविहीन' संगीत सुनते होंगे। क्या आप कभी ऐसा सोचते हैं कि यह संगीत परंपरागत 'स्टाफ-नोटेशन' की जगह ले लेगा?

इस बारे में मैं कुछ नहीं कह सकता। मैं तो सिर्फ सुनता हूं।

'कंप्यूटर म्यूजिक' के बारे में आपका क्या ख्याल है, आइएनिस मैनाकिस द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले ऐसे संगीत के बारे में खास तौर से?

कभी-कभी मुझे यह अच्छा लगता है, कभी-कभी नहीं।

क्या आप हर चीज सुनते हैं?

हां, मैं कमोबेश सभी कुछ सुनता हूं, हालांकि हर चीज मुझे पसंद नहीं आती। मेरी समझ में ज्यादा से ज्यादा लोगों के लिए संगीत सुनना और बजाना मुमकिन होना चाहिए। ऐसा होना चाहिए कि वे रोज कई घंटे या तो कोई वाद्य बजा सकें, या फ्रांस के संगीत प्रेषित करने वाले रेडियो स्टेशन को सुन सकें, या संगीत के रिकार्ड सुन सकें।

कुछ लोग काम करते वक्त रेडियो या रिकाड-प्लेयर बजाते रहते हैं। क्या आप भी ऐसा करते हैं ?

नही, मैं या तो सगीत सुनता हू या काम करता हू। अगर आप ठीक स सगीत का आनद लेना चाहते हैं, तो आप किसी दूसरी चीज की ओर विशेष ध्यान नही दे सकते। मैं नही समझता कि कोई आदमी किसी सगीत रचना मे डूब कर आनद ले सकता है, अगर वह साथ ही साथ किसी ऐसी मुश्किल चीज को भी कर रहा हो जिसम सावधानी की जरूरत हो या जिस बार-बार सशोधित करना पडे वगैरह। या तो सगीत आपक लिखन म खलल डालगा या आपका लेखन आपको सगीत का मजा नही लेन दगा। आप दोनो काम एक साथ नही कर सकते।

प्रसगवश, हम लोगो ने स्वरविहीन सगीत के बारे म ठीक स चर्चा की ही नही। मैं यह कहना चाहता था कि जब हम सगीत की अपरिपक्व सामग्री के बारे म बात करते हैं तब हम स्वरो और बतनो की खडखडाहट के बीच म कुछ फक तो करना ही पडेगा। और सगीत मे स्वरो और बतनो की झन झनाहट के बीच म भी कई तरह की ध्वनिया होती हैं। म यह कहने के लिए मजबूर हू कि मैं इन सबकी तुलना मे स्वर लिपि पर आधारित सगीत को पसद करता हू। मेरा मतलब यह नही है कि मैं ठोस सगीत (कान्क्रीट म्यूजिक) बिल्कुल पसद नही करता। दरअसल मैं इस तरह के सगीत को ठीक तरह से ग्रहण करने मे कठिनाई महसूस करता हू (हालाकि अतत मैं इसमे सफल हो जाता हू)। स्वर और शोर के बीच का सक्रमण मरी समस्या है। इसका मतलब क्या है ? इसका मतलब यह है कि सगीत कोई भिन्न या विशिष्ट क्षेत्र नही है जो दुनिया से कही दूर किसी विशेष पदाथ स निर्मित किया गया हो। इसका मतलब यह है कि सगीत और दुनिया एक ही चीज हैं।

अतत मैं स्वर मे स्थित आदशवादिता को ककश ध्वनि की पार्थिवता स श्रेष्ठ समझता हू। मैं नही जानता कि इस मामले मे मैं सही हू, फिर भी ऐसा मैं सोचता हू। शायद इसका कारण यह है कि मैंने सगीत साठ साल पहले सीखा था, जिस समय इस तरह की समस्याए नही थी।

मेरी समझ मे स्वर लिपि को पहले भी एक विशिष्ट स्थान प्राप्त था और आज भी प्राप्त है। वतमान म एक ऐसी ध्वनि जो स्वर नही है, या दूसरे शब्दो मे जो एक शोर है, मेरे अदर एक सीमा के बाद विस्फोटक हालत पैदा करती है, हालाकि अतत विस्फोट नही होता। अगर कभी ऐसा विस्फोट हुआ तो शोर, ध्वनि और स्वर के बीच मे अभी मैं जो फक कर सकता हू वह खत्म हो जाएगा। अभी तक वह हालत नही पहुची है।
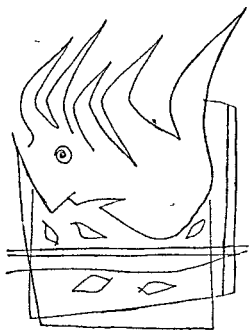
लाल रंग भी उदास हो सकता है

रामकुमार से प्रयाग शुक्ल की बातचीत

रामकुमार अपने बारे में बात करने वालों में नहीं रहे हैं। उन्हें अतिरंजना, कृत्रिमता और बड़बोलेपन से वितृष्णा है और यह प्रीतिकर विस्मय ही है कि उनकी कहानियाँ और चित्रकृतियाँ 'इन सबसे' पर्याप्त बचे रहकर न केवल अपने और अपने रचनाकार के बारे में कुछ बताती हैं बल्कि वे मानवीय करुणा और विराट जीवनानुभव में भी आपको शरीक करवाती हैं।

उनकी कहानियाँ हुस्ना बीबी, एक चेहरा, समुद्र, झींगुरों के स्वर नामक संग्रहों में हैं। उनके कुछ उपन्यास और यात्रा-वृत्तांत भी प्रकाशित हुए हैं। साथ ही उनकी चित्रकृतियों की एकल प्रदर्शनी पेरिस, प्राग, वारसा, क्राकोव, कालवा, कलकत्ता, बंबई, दिल्ली, शिमला आदि जगहों पर हुई हैं। उन्हें साओ पाओलो १९७६, राकफेलर फाउंडेशन फेलोशिप, भारत शासन द्वारा पद्मश्री के सम्मान भी प्राप्त हुए हैं।

ललित कला अकादेमी ने रामकुमार के कला-व्यक्तित्व पर केंद्रित मोनोग्राफ का प्रकाशन भी किया है।

•

प्रयाग शुक्ल महत्त्वपूर्ण कवि समीक्षक हैं। उनका एक कविता संग्रह यह एक दिन है हाल ही में प्रकाशित हुआ है। आपने ललित कला अकादेमी के लिए कला समय समाज (कलालोचना) का संपादन भी किया है। इन दिनों दिनमान में उपसंपादक और समकालीन ललित कला के अतिथि संपादक पद पर कार्यरत हैं।

रामकुमार से मेरी यह बातचीत कई बैठकों मे हुई, जिनमे से दो बहुत लबी था। बातचीत का यह सिलसिला कोई साल भर पहले शुरू हुआ था और अभी हाल तक चलता रहा। सोचा यह गया था—और रामकुमार इससे सहमत थे—कि बातचीत उस शक्ल मे ही न हो जिसम कुछ सवाल जवाब ही प्रमुख हो उठते हैं। इसलिए बैठकों की सख्या भी—कुछ अतराल देकर—बढती गई और इस बातचीत के सबध मे लिखना भी आगे की ओर खिसकता रहा। इस बातचीत के सबध मे कुछ बातें बताने का मन यहा और भी है वे बातें इसके सबध म किसी हद तक शायद जरूरी भी हैं।

रामकुमार से मेरी पहली मुलाकात कलकत्ता मे ६१ मे हुई थी, जब वह सेमिनार के सिलसिले मे वहा आए थे। मैं कलकत्ता मे ही रहता था और उन दिनो पढ रहा था। मैं रामकुमार की कहानियो को ढूढकर पढनेवालो म से था। तब मेरी भी कुछ कहानिया पत्रिकाओ मे छप चुकी थी और उनम से कुछ रामकुमार ने पढ रखी थी। सो तब परिचय का आधार कहानिया ही थीं। रामकुमार के चित्र मने देखे नही थे—उनके परिचय से यह जरूर मालूम था कि वह चित्रकार भी है, उन्ही के साथ तब मैं कलकत्ता के भी कुछ चित्रकारो से मिला और सेमिनार के सिलसिले मे बाहर से आए चित्रकारो से भी। कलकत्ता के उन कुछ थोडे से ही दिनो मे (तब म रामकुमार के साथ ज्यादा तर समय रहा और घूमा था) रामकुमार के स्वभाव, व्यवहार वगैरह के बारे म 'धारणाए बना सकने लायक सामग्री मेरे पास इकट्ठा हो गई थी—या एसा मुझे लगा था। इसम उनकी कहानिया भी शामिल थी और जिस चीज की खुशी मुझे सबसे अधिक हुई थी वह यही थी कि उनकी कहानिया पढ कर उनकी जो तस्वीर मन म उभरती थी-वह उससे कही भिन्न नहीं थे। जितनी संवेदनशील उनकी कहानिया थी, वैसे ही रामकुमार लगे थे। रामकुमार मुझसे १५ १६ साल बडे हैं। वय का यह अतर हम लोगो के बीच तब और ज्यादा

लगता था। लेकिन पहली ही भेंट म रामकुमार ने इस जैसे कहीं बीच म नही आने दिया और अगर इसका कोई विशेष मतलब हो तो यही यह भी याद करने का मन है कि शराब मन सबस पहले रामकुमार क साथ ही पी थी।

रामकुमार से कलकत्ता की इस भेंट का एक नतीजा मेरे लिए यह भी निकला कि उनकी लिखी-बनाई हुई चीजा म मेरी दिलचस्पी और अधिक बढ गई। ६४ म म 'कल्पना' (हैदराबाद) छोड दिल्ली आया—स्वतत्र लेखन करने या नौकरी ढूढने के इरादे म। रामकुमार से भेंट अक्सर होने लगी। मने उनके चित्र भी उनके स्टूडियो म देखे और वही उनके कई चित्रकार मित्रो से भी मिला। म स्वतत्र लेखन ही कर रहा था और इस सिलसिले म मुझे अखबार के दफ्तरा म अक्सर आना पडता था—वे सब नयी दिल्ली मे कनॉट-प्लेस के आसपास ही थे। रामकुमार के पास उन दिना घर म काम करने के अलावा एक स्टूडियो और था—२६ गोल मार्केट म (जहा अब 'गलरी २६' है)। यह जगह कनॉटप्लेस के पास ही है। तब मै मॉडल टाउन ठहरा था जो कनॉटप्लेस से बहुत दूर था। रामकुमार ने कहा, म उनके स्टूडियो म ही आकर क्या नही रहता (वह सुबह ८ के करीब आते थे और १२ १ के करीब चले जाते थे) मैंने अपना बिस्तर और थोडा-सा सामान वही लाकर रख लिया। एक चाभी रामकुमार के पास रहती थी, एक मेरे पास। दरअसल यही वे दिन थे जब मने रामकुमार को और निकट से जाना उनके लिखने और काम करने के ढग की अच्छी झलक मुझे मिली। यही मने उनके चित्र अकेले म भी बहुत बार काफी देर देर तक देखे। रामकुमार अपने स्टूडियो म एक नोटबुक बराबर रखते थे—कई बार जब चित्रो पर काम न कर रहे होते और लिखन का मन होता तो लिखते थे। एक दिलचस्प और यहा याद करने वाली बात मेरे लिए यह है कि शुरू-शुरू मे रामकुमार स कला पर मेरी बहुत बात नही होती थी। यह शायद मेरी झिझक की वजह से ही था—लेकिन था। अक्सर म ही अपनी प्रतिक्रियाए और शकाए उनके सामने रखा करता था जिन्हे वह बराबर धीरज के साथ सुनते थे—इस बहाने मेरे लिए कई चीजें साफ होती थी। और कला पर भी म बात तो करता था लेकिन यह बातचीत नही होती थी। यहा छपी बातचीत के सिलसिले म भी एक लबी बैठक के दौरान जब म काफी देर तक अपनी ही एक बात कहता रहा तो सहसा मने अपन को रोककर रामकुमार से कहा कि लगता है म ही बोले चला जा रहा हू जबकि मुझे आपसे जानना है, ता रामकुमार खुलकर जोर स हसे थ।

शुरू मे मैं और मेरे दोस्त यह माना करते थे कि रामकुमार राय देने से कतराते हैं। दरअसल अब सोचकर लगता है कि ऐसा था नही—उनका रुख ही उनकी राय हुआ करती थी जिसे कुछ लोग कई चीजा के प्रति उनकी उदा-

सीनता भी मान लिया करते थे। लेकिन यह सही है कि रामकुमार बहुत बात करने वालों में से कभी भी नहीं रहे। हां, अब वह अपनी राय अधिक मुखर होकर देते हैं—केवल *'व्यवहार' या रुख से ही नहीं*। मैंने बातचीत में उनसे इतनी चर्चा भी की जिससे वह किसी हद तक सहमत दिखें। ये सारी बातें याद करने का मतलब यही है कि मैं कहना चाहता हूं कि यहां छपी बातचीत दरअसल कुछ ही बैठकों का नतीजा नहीं है। जब से रामकुमार से मेरा परिचय हुआ तब से मैंने उनके काम को कई-कई बार देखा है—उनके यहां, संग्रहालयों में, प्रदर्शनियों में उनसे कई विषयों पर बातचीत हुई है, उन्हें दोस्तों के बीच बातचीत करते देखा-सुना है। पार्टियों में मुलाकात हुई है। और जब से वह मथुरा रोड वाले मकान में आए हैं (करौलबाग छोड़), महीने में एक या दो बार मैं जरूर ही उनके यहां जाता रहा हूं—और हर बार विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक और कला-जगत की घटनाओं पर उनसे चर्चा होती रही है। वे सब यहां छपी बातचीत में आ ही गई होंगी ऐसी बात नहीं है—लेकिन वे किसी न किसी रूप में तो यहां मौजूद होंगी ही।

रामकुमार अपने बारे में बात करने वालों में भी नहीं रहे हैं। दरअसल इसमें वह बचते ही रहे हैं। इससे पहले मैंने उनका 'इंटरव्यू' बाकायदा एक बार उनसे कोई दस साल पहले किया था—'ज्ञानोदय' के लिए। तब मुझे काफी कठिनाई हुई थी—यह नहीं कि रामकुमार ने सहयोग नहीं दिया था—अपनी ओर से उन्होंने बहुत ज्यादा सहयोग नहीं दिया था कठिनाई इसीलिए हुई थी—बल्कि उलझन—कि अपने ही कई सवाल बेकार से लगने लगते थे। उस इंटरव्यू के संदर्भ में एक बात और ध्यान में आती है मेरा अनुमान है कि उस इंटरव्यू की मेरी भाषा से रामकुमार कुछ खिन्न हुए थे। रामकुमार उन लोगों में से हैं जिन्हें शब्दों की सहजता या उनके सहज रख-रखाव से गहरा लगाव है। वह इंटरव्यू भी टेप नहीं हुआ था और यह बातचीत भी टेप नहीं की गई नोट्स के आधार पर ही लिखी गई है। मैंने अपनी ओर से पूरी कोशिश की है कि रामकुमार के शब्द और उनका लहजा बातचीत में बना रहे। नोट्स के आधार पर लिखी गई बातचीत में किसी हद तक यह असंभव काम है। फिर भी रामकुमार उन लोगों में से रहे हैं—आज भी हैं—जिन्हें अति-रंजना, कृत्रिमता और बड़बोलेपन से बहुत विरक्ति है। और इंटरव्यू' जैसी चीज में एक हद तक तो 'बनावट' आती ही है—दो व्यक्ति खास तौर पर अगर एक-दूसरे को काफी दिनों से जानते हों तो एक असहज स्थिति में पाते हैं। कई परिचित चीजों का—ऐसे प्रश्नों का जिनके जवाब हमें एक हद तक पहले से मालूम हों—दुहराव बहुत *अखरता है और आगे बढ़ना मुश्किल लगता* है। लेकिन इस मुश्किल का एक लाभ भी है आगे बढ़कर हम बनी-बनाई

धारणाओ के और भीतर या परे जाकर वास्तविकता को एक नये सिर से भी पहचानते हैं। इस बातचीत का एक यह लाभ कम मे कम मुझे हुआ है।

यहा छपी बातचीत को रामकुमार छपने से पहले देख चुके है। और कई सुझाव दिए है—सशोधन सुझाए हैं। इस बातचीत से रामकुमार के जीवन (कई घटनाओ प्रसगो) को और अधिक जानने का मौका मिला, जो मैं समझता हू कि उनके पाठकों-दर्शकों के लिए भी महत्त्वपूर्ण होगा। मैंने रामकुमार से तरह-तरह के सवाल किए। बातचीत के दौरान हम दो ही हुआ करते थे। उनमे से सबको देने का औचित्य भी नही था और उसी क्रम से उन्ह रखने का तो और भी नही। सो शायद बीच मे या काफी बाद मे पूछा हुआ सवाल यहा पहले है। इसी तरह और भी सवालो का क्रम आगे-पीछे हो गया है और कई बार आगे पीछे के सवाल जवाबो को एक जगह मिला भी दिया गया ह।

○●

क्या आपको याद है कि पहली कलाकृति आपने कब बनाई ? और इस ओर रुझान कसे हुआ ?

अगर तुम्हारे सवाल का मतलब यह है कि मैंने पहली चीज रेखा रगा म कब बनाई तो वह शायद सातवी कक्षा की बात है। हमे ड्राइग सिखाई जाती थी। सेब बनाओ या ऐसा ही कुछ। एक ड्राइग टीचर थे। मने तभी कुछ बनाया था। लेकिन यह सब मुझे बहुत उबाऊ लगा था और अगली कक्षाओ म ड्राइग के न रहने पर मुझे खुशी ही हुई थी।

आपने लिखना पहले शुरू किया ?

लिखना चित्र बनाने से पहले शुरू किया था। लेकिन लिखने स पहल मेरी दिलचस्पी सगीत मे भी कम नही थी।

सगीत मे ? यह तो मेरे लिए एक नयी जानकारी है।

हा, दरअसल कभी इस पर बात नही हुई इसीलिए

हम सब बराबर यही सोचते रहे कि शुरू से आपकी दो ही मुख्य दिलचस्पियां रही हैं—चित्रकला या लेखन।

बचपन मे शिमला मे हम जिस मुहल्ले म रहते थे—कैथू म। कैथे के फल से बना है कैथू (वहा कैथे के बहुत पेड थे)। वही एक अधे सगीत के मास्टर थे। कई परिवारो मे सगीत सिखाते थे। बगाली परिवार थे कई—बगालियो की

सगीत का शोर होता ही था अधिक। हम लोगो ने भी सीखा। गाना। नही, कोई और दूसरा वाद्य नही, हारमोनियम के साथ गाते थे। मने प्रतियोगिताओ मे भी गाया। पुरस्कार भी मिले। मैट्रिक म था जब स्कूल म कोई बडा समारोह हुआ था—पाच लडके गाने के लिए चुने गए थे। म भी था उनम स एक। नाटक, रामलीला में भी भाग लिया। चित्रकला की दुनिया का उन दिना मुझे पता ही नही था।

फिर चित्रकला की ओर ?

वह बाद की बात है। हम लोग दिल्ली आ गए थे। मैं अथशास्त्र पढन लगा था। एम० ए० प्रीवियस मे था, तब की बात है। हम लोग दिल्ली म गोल डाकखाने के पास रहते थे। एक शाम मैं घूमता हुआ जनपथ आया—जहा पहले काफी हाउस था। कॉफी हाउस के ऊपर शारदा उकील स्कूल ऑव् आट का बाड दिखाई पडा। उन्ही दिना वहा स्कूल की प्रदशनी भी लगी थी शायद। मैं अदर चला गया। देखता रहा। देखते-देखते चित्र बनाने की एक गहरी इच्छा सी मेरे मन म उठी। मने पूछा, क्या यहा उन्ह भी दाखिला मिल सकता है जिन्हान पहले कही सीखा न हो। जवाब मिला, हा। मैं शाम की कक्षाओ मे भरती हो गया। क्योकि दिन म तो मैं युनिवर्सिटी म अथशास्त्र पढता था। उन्ही दिनो या कुछ बाद म आयोजित जामिनी राय के चित्रो की प्रदशनी देखन की बात भी मुझे याद है।

उन दिनों वहा शलोज मुखर्जी थे

हा, वही तो थे। मैंने उन्ही के साथ चित्र बनाना शुरू किया। पूरी छूट थी मैं जैसा चाहू बनाऊ। शैलोज से जहा एक ओर बहुत प्रेरणा मिलती थी तो दूसरी ओर भय भी लगता था, क्योकि मास्टर के रूप म कला सिखाना उनके बस की बात नही थी।

इसी के साथ आपका लेखन भी चलता रहा ?

हा, कहानिया तो मैं काफी पहले से ही लिखने लगा था—लिखता रहा। लेकिन चित्रकला को मैं काफी समय देने लगा।

क्या आपने दोनों काम एक साथ करने मे कोई टकराहट महसूस की ?

नही, एक अरसे तक कोई टकराहट महसूस नही की। लेकिन यह बात जरूर मन म कई बार उठी कि क्या मुझे उनम से कोई एक चीज चुन लेनी चाहिए।

लिखने और चित्र बनाने मे टकराहट तो मैं अब जाकर महसूस करने लगा हू और अब वाकई मुझे यह लगने लगा है कि क्या जल्दी ही लिखना मुझे छोड जाएगा। इसलिए भी कि लिखने का डिसिप्लिन मैं बनाये नही रख सका (रामकुमार ने इसी शब्द 'डिसिप्लिन' का प्रयोग किया था—'अनुशासन' के अर्थों म ही नही और व्यापक अर्थों म इसका इस्तेमाल उन्होंने किया था) और डिसिप्लिन को मैं जरूरी मानता हू।

ऐसा आपको क्यों लगता है ?

बस, इसीलिए कि अधिक से-अधिक समय अपने काम को देने की आवश्यकता जोर से महसूस होने लगी है। और शायद उम्र बढने के साथ-साथ ऐसा सोचना एक अनिवार्यता भी जान पडती है। कही दुख भी होता है कि लिखने के वे जो सब स्वप्न थे जिन्हें वर्षों पूव देखा था और साकार करने की चेष्टा की थी, वह कही बहुत दूर की एक घटना जान पडेगी। लेकिन एक जिंदगी की अपनी भी सीमाए होती हैं जिनका विरोध करना बुद्धिमानी नही है। और मैं समझता हू कि आदमी मे अपने को जान लेने की इच्छा ही सबसे प्रबल होती है—होनी चाहिए। और एक लेखक कलाकार किसी माध्यम का चुनाव करता ही इसीलिए है कि जानने की इस प्रक्रिया को वह एक आधार दे सके। चित्रकला को आज मैं पहले से भी ज्यादा अपने निकट इसीलिए मानने लगा हू।

क्या इसे आप आज के युग मे लिखने के किसी सकट के रूप मे भी देखते हैं या यह 'सकट' आपका बिल्कुल अपना है ?

मेरा अपना सकट है। साहित्य का नही।

चित्र रचना करते हुए आपको एक लबा अरसा हो चुका है (सवाल अभी पूरा नही हुआ था)

(कुछ बेचैनी से) म नही जानता एक लबे अरसे से तुम क्या सोचते हो—चित्र बनाते हुए मुझे कोई बीस पच्चीस साल ही तो हुए। म सोचता हू यह कोई लबा अरसा नही है। एक माध्यम मे, एक जिंदगी मे। और आज जब म चित्र बनाने बैठता हू या कभी भी बैठता था तो यह सोचकर तो नही कि इतने वर्षों मे मुझे इतनी दूरी तय कर लेनी है।

नहीं, मैं एक बात और सोच रहा था। सवाल के रूप मे ही। समय का ऐसा एहसास हमे हो सकता है रचना करते हुए न हो। लेकिन

जिंदगी की लबाई को मापने की एक मजबूरी तो है ही जिसका जिक्र कुछ देर पहले आपने भी किया। मैं केवल यही सोच रहा था कि चित्रकला को ही अधिक समय देने की बात आप इसलिए भी तो नहीं सोच रहे ?

ठीक है। म तुम्हारी बात समझ रहा हू। नही, इस सिलसिले मे म ऐसी बात नही सोच रहा कि अब समय बहुत ज्यादा नही रहा। दरअसल वैसा म सोचता नही हू—सोच नही सकता हू। मुझे दौडकर किसी खास जगह पहुचना तो है नही। सामने के कैनवास मे ही मुझे समय लगाना है फिलहाल—जब म काम करता हू और म नही जानता हू—कभी नही जानता हू—कि इसमें कितना समय लगने वाला है।

पिछले कुछ वर्षों मे आपकी कला मे चटख रग प्रकट हुए हैं जो पहले नहीं थे और कुछ ऐसे रग भी जो पहले नहीं दिखते थे, मसलन हरा, लाल

हा वे अब हैं, लेकिन इसका कोई 'कारण' म न बता सकूगा। यह जरूर कहूगा कि वे अपने आप में किन्ही चीजो के प्रतीक नही ह। लेकिन कही ऐसा भी लगता है कि पच्चीस वप पूव जब म चित्र बनाता था और आज बनाता हू तो दोना स्थितिया मे क्या कोई अतर नही है ? शायद है और कही कुछ भी नही बदलता। लेकिन एक यात्रा जहा से शुरू हुई थी, वह तो आगे ही बढती गई—जहा नये पडाव, नये मोड, नये दश्य दिखाई देते रहे।

आपके चित्रों और कहानियों मे उदास रग की ओर बार-बार सकेत किया गया है

इसीलिए मैंने कहा कि बदले हुए रग किन्ही चीजो के प्रतीक नही हैं। मैं समझता हू, लाल रग भी उदास हो सकता है—अगर हम उदास रगा की ही बात कर रहे हा। वान गो के यहा कितने रग हैं वे 'प्रसन्न' रग ही तो नही लगत। ये रग लाल, हरा आदि मेरे यहा अनायास ही आए। ठीक वैस ही, जस एक समय आकृतियो की जगह अमूतन न ली थी। मने यह जानबूझ कर नही किया था।

लेकिन कोई कारण इसके पीछे हो सकता है

कारण तब शायद था भी। लेकिन वही एकमात्र कारण था, यह म नहीं मानता। १९५८ म म पेरिस स वेनिस बियेनाल देखने गया था। वहा स ग्रीस गया। इसी बीच मन तापी के चित्र देखे थे। यूनानी लडस्केप न मुझे

लाल रग भी उदास हो

लिया। धूसर रगो के दूर-दूर तक के फैलाव ने। शायद यह एक कारण था मेरे चित्रो से आकृतियो के चले जाने का। एक गहरी इच्छा हुई कैनवस मे रगो की व्याप्ति के लिए। लेकिन आकृतिया के चले जाने से उनकी बात चली गई, ऐसा तो था नही। आकृति और अमूतन की बहस कई बार फिजूल लगती है। फ्रासिस बेकन के चित्रो मे आकृतिया है लेकिन क्या हम उन्हें आकृतिया करके ही पहचानते हैं ? (बातचीत मे रामकुमार ने बताया था कि बेकन का काम उन्हे बहुत अच्छा लगता है।)

फलाव या विस्तार से एक बात आपकी कहानियो के सदभ मे ध्यान आती है जहा तक 'स्पेस' का सवाल है, चित्रों के विपरीत आपकी कहानिया सब जसे तग गलियो, बद कमरो मे घटित होती हैं, जबकि चित्रो मे प्रमुख हैं आकाश, पहाडी और धरती के विस्तार —पिछले वर्षों के चित्रो मे। हा, शुरू के आपके चित्रो की आकृतिया और बनारस सिरीज के चित्र जरूर आपकी कहानियो के निकट लगते हैं। चित्र और कहानिया दोनों एक व्यक्ति की—आपकी हैं—इसीलिए यह सवाल (सवाल सुनकर रामकुमार कुछ सोचने लगे)

शायद मैं अपनी बात ठीक से नहीं रख पाया या इस सवाल का शायद खास मतलब नहीं। मुझे पता नहीं। लेकिन एक बात और ध्यान मे आती है कि आपकी 'समुद्र' और 'सेलर' और 'डेक' जसी कहानियों मे तो स्पेस (मैं शाब्दिक अर्थों मे कह रहा हू), विस्तार को लेकर अनेक इच्छाए हैं, बल्कि एक हद तक कहानियो की सेटिंग इस विस्तार के बीच है।

मैं तुम्हारी बात समझ रहा हू। एक बात मैं पहले भी कहना चाहता था यहा (याद आया कि रामकुमार यह बात पहले भी मुझ से दो चार बार कह चुके हैं) कि चित्र रचना और लिखने की प्रक्रिया मेरे लिए एक जैसी कभी नही रहीं। हो भी नहीं सकती। दोनो की अपनी अलग तरह की मार्गे हैं।

लेकिन इन दोनों के बीच कुछ समानताए भी रही होंगी—एक व्यक्ति की ही होने के नाते। मसलन आपकी कहानियों मे अतीत और स्मृतिया बहुत प्रमुख हैं। चित्रकला मे भी क्या इस अतीत की मौजूदगी आप किसी रूप मे—मेरा मतलब खास तौर पर रगों

रूपाकारो से है—पाते हैं ?

यह सही है। मुझे अतीत की ओर देखना बराबर अच्छा लगता रहा है। या 'अच्छा' की बात न कहे, बस कहें कि मेरे साथ ऐसा ही रहा है। मैं आगे की ओर देखने वाले—भविष्य की ओर देखने वाले—लोगो म से नही हू। इसका असर भी जरूर मेरे काम म होगा। हा, किस तरह है, यह जरूर

चित्र रचना मे क्या आप देखी हुई जगह की स्मृतियो के साथ बढते हैं—उन्हें लेकर चलते हैं ?

खाली कैनवस को सामने रखकर बहुत-सा वक्त यह सोचते हुए बीत जाता है कि क्या रग लगाए जाए, पहली रेखा कहा से कहा और कसी खीची जाए, कौन-सा वह आकार होगा जो मुझे बिल्कुल नया जान पडेगा, जैसे कोई नयी घटना, नयी अनुभूति। स्टूडियो के बाहर भी इन प्रश्नो के उत्तर जानने की चेष्टा की जाती है। किसी खास स्मृति को लेकर नही, लेकिन स्मृतिया तो रहती ही हैं। मैं चित्र शुरू करने से पहले अक्सर कुछ रूपाकारो की आकार रेखाए हल्की-सी खीच लेता हू। चित्र 'खत्म होते होते ये सब रगा के बीच घुल जाती हैं। लेकिन बिल्कुल शुरू मे भी ये किन्ही चीजो का अकन नही होती।

अच्छा, आकारो की बात रहने दें, लेकिन रगो मे

हा, रग याद रहते हैं। वे फिर प्रकट भी होते हैं। ग्रीस के रगो की बात मैंने की। जैसलमेर (राजस्थान) के सफेद धूसर रगो की भी मुझ पर एक समय गहरी छाप पडी। वाराणसी के अनुभव भी कही बहुत गहरे थे। घाटा पर घूमते हुए लोगा की भीड मे कुछ चेहरे सदा के लिए अकित हो गए। सफेद दीवारा पर बनी काली खिडकिया, ऊपर से नीचे तक बनी हुई सीढिया, जिनके रहस्य का आभास पहली बार ही हुआ प्रकाश और छाया के बीच खिची एक स्पष्ट रेखा। वे सब अनुभव स्पष्ट रूप म अपनी छाप छोड गए जिनसे शायद अभी तक पूण रूप से अपने चित्रो को मुक्ति नही दिला सका हू।

दरअसल मैं इस सबके बहाने कुछ और भी जानना चाहता था। शायद उस खास अनुभव की बात जो आपके चित्रो मे रहा और शायद जिसके बारे मे आप कुछ बता सकें।

अनुभव दरअसल किसी हद तक इस तरह के सवाल लेखन के सदभ मे अधिक सगत लगते हैं। खास अनुभव चित्रो मे जरूर हाग ही, लेकिन उन्ह शब्दा म रख पाना । काशिश ही की जा सकती है

लाल रग भी उदास हो सकता है।

देखा। लगभग एकवर्णी (मोनोक्रोमेटिक) यह चित्र मुझे बहुत अच्छा लगा है।

हा, यह भी अचानक हुआ।

आपने गहरे चटख रगो के भी उदास होने की जो बात कही है वह मुझे बहुत महत्त्वपूण लगती है। चित्र देखते समय कई बार चीजो के बारे मे पूव-धारणाए शायद काफी आडे आती हैं। लेकिन एक दूसरी बात जो मैं जानना चाहता हू—ईजल या कनवस पेंटिग के बारे मे यह बात अक्सर कही जाती है कि वह पश्चिम से आई हुई है, क्या इस कारण कभी आपको उसके साथ रिश्ता बनाने मे कठिनाई हुई? मेरा मतलब है, ईजल पेंटिग के इतिहास के साथ उसके अपने कुछ 'तक' बने। शायद एक बोझ भी। इसका कोई दबाव आपने अनुभव किया? मैं इसलिए भी यह जानना चाहता हू कि आप उन लोगो मे से हैं जिन्होंने यहा आधुनिक कला आदोलन की शुरुआत की है।

जब हम कोई माध्यम चुनते हैं तो उसमे जैसे अपने अनुरूप भी कुछ चुनते है। मैंने अपनी कला शिक्षा के बारे मे बताया कि किस तरह एक शाम चित्र बनाने की मुझमे तीव्र इच्छा जागी थी। माध्यम के इतिहास वाली बात सही है लेकिन वह अपनी जगह है। मैंने बहुतेरा काम विदेशी सग्रहालयो और प्रदशनिया मे देखा—सबको देखकर मेरे मन म एक जैसी प्रतिक्रिया नही हुई—उसमे से कुछ ने ही मुझे खास तौर से आकर्षित किया।

आपको किन चित्रकारो का काम बहुत अच्छा लगता रहा है?

एल ग्रेको का काम मुझे 'हाट' (आविष्ट) करता रहा है। उनकी कृतियो के लबोतरे चेहरे और कितना अद्भुत (हाटिग कहा था रामकुमार ने)आकाश। एक मामले मे कलाकार और आदमी की एक समस्या तो बराबर एक सी रहती है। दुनिया म होने के अपने सवेगा (इमोशस) को रखने जानने की उन्हें सभवतम रूप मे व्यक्त करने की। कुछ कलाकारो का काम देखकर लगता हैं कि कितनी अच्छी तरह उन्हाने इस समस्या को सुलझाया—इसी के साथ यह जानने का मन भी करता है कि कैसे सुलझाया उन्हाने। बार बार सोचने का मन करता है।

बिल्कुल सयोग से ही एल ग्रेको के बारे मे मैं पिछले दिनों पढ रहा था। कई देशों में रहे वह। इटली और स्पेन मे, और थे यूनानी।

कुछ दिनो पहले दिल्ली मे एमिलियो ग्रेको की एक प्रदशनी आयोजित हुई थी, सो नाम साम्य के कारण एल ग्रेको के बारे मे फिर से जानने की इच्छा हुई थी। आप कला पर कभी-कभार लिखते भी रहे हैं। रवींद्रनाथ के चित्रो पर आपकी टिप्पणी मुझे सबसे अधिक ध्यान मे आती है। लेकिन अपने समकालीनों पर आपने नहीं लिखा। और बाद की पीढी पर भी

अपने समकालीनो पर तो मैंने लिखा हुसेन पर, तैयब मेहता पर, कुछ दिना पहले ही रजा पर लिखा था। बाद की पीढी पर भी दो एक टिप्पणिया लिखी।

हा, मुझे याद आया। एक टिप्पणी मे आपने युवा कलाकारो से यह शिकायत की थी कि वे अधिक काम नहीं करते। 'बाडी ऑव वर्क' ज्यादा नहीं है। लेकिन क्या आपको यह नहीं लगता कि हमारे यहा काम करने की सहूलियतें बहुत कम हैं—दूसरे समाजो की बनिस्बत ?

दरअसल मेरा मतलब 'सक्रियता से था—वह वढी है। और आज से कई साल पहले जब मैंने वह टिप्पणी लिखी थी तब भी यह बात सब युवा कलाकारो के लिए नही लिखी थी। कुछ ऐसे युवा कलाकारा के, जिनका काम मुझे पसद है, मैंने नाम भी गिनाए थे। और सहूलियतें—वे कम हैं, यह सही है, लेकिन इस स्थिति म भी काम करने के तरीके ढ्ढ निकालने चाहिए—यह मैं मानता हू। मसलन रेखाकन को ही लें वह अधिक खर्चीला माध्यम नही है और मेरा मतलब केवल युवा कलाकारो से ही नही बल्कि अपनी पीढी के कलाकारो से भी है जो कला के अतिरिक्त—या कही कही कला के बदले—दूसरी उलझनो मे अधिक फस गए है जैसे अकादेमी की समस्याओ म, सरकारी समितियो मे, सर ग्पाटो और पार्टियो म जहा उनके अहम और उनके हाथ मे आई शक्ति स उन्ह प्रसन्नता मिलती हो। लेकिन उनकी कला को घुन-सा लगने लगता है या जिस स्तर तक पहुचने की क्षमता उनमें थी, वे नही पहुच पाते।

मेरे विचार मे होना यह चाहिए कि एक उम्र के बाद दूसरी उलझनो से बाहर निकलकर एक कलाकार को अपनी पूरी शक्ति और समय केवल अपने काम म ही लगाने चाहिए इसलिए नही कि उसे अधिक प्रसिद्धि या धन या सम्मान और पुरस्कारो की जरूरत है—क्योकि ये तो उसके काम के गिरते हुए स्तर के बावजूद उसे मिल जाएग—बल्कि इसलिए कि केवल अपने लिए अनुभवो के आधार पर वह उस कला की रचना करे जिसकी सामर्थ्य उसमें है। एक जगह आकर सब सघर्ष समाप्त हो जाते हैं और केवल एक ही सबस बडा सघर्ष शुरू हो जाता है और वह होता है केवल अपने आप मे, जब कलाकार

सब सीमाओ को तोडकर नये आयामो की नीव डालता है। यह बात यूरोप और अमेरिका मे आम तौर से देखी जा सकती है। हमारे यहा इससे ठीक उल्टा ही हो रहा है।

> एक कनवस पर उठी समस्या को अलग-अलग चित्रों मे सुलझाने की चेष्टा की ओर भी इशारा है क्या आपका? क्योंकि देखने को बहुत काम हो और उसमे कुछ दीख न रहा हो तो बहुत काम करने का कोई मतलब नहीं। दुर्भाग्य से हमे आज कई बार साल-दर-साल ऐसी प्रदर्शनियां देखने को मिलती हैं जिनमे काम तो बहुत होता है, लेकिन वहस विचार और देखने के लिए खुराक बहुत कम।

इसीलिए मैंने अपनी बात स्पष्ट की। काम मे लगे रहने की बात की जो डिसिप्लिन बनाए रखने की जरूरत की बात लिखने के सदर्भ म की थी, वही मैं हर क्षेत्र के लिए जरूरी मानता हू। पश्चिम म जितना अरसा मैंने बिताया यह बात मुझे एक हद तक सबसे अधिक चमत्कृत करती रही कि किसी भी जाने-अनजाने नये-पुराने कलाकार के स्टूडियो म जाने पर बराबर काम का ढर दिखाई पडता था। कई बार इतना अधिक कि आप दखते थक जाए। और कलाकार तीस चालीस कैनवसो का पलटने के बाद एक दिखलाता था लेकिन हमारे यहा केवल वे चुने हुए चद चित्र ही कलाकार के स्टूडियो मे दिखाई पडते हैं जिनको वह प्रदर्शनी मे दिखाएगा। हर चित्र एक 'फिनिश्ड' चित्र होना है यहा।

> लेकिन क्या आपको यह नहीं लगता कि काम करने की शलियों मे फक हो सकता है—कोई कलाकार बहुत थोडा काम करके भी बहुत अच्छा काम कर सकता है। और यह भी कि पश्चिमी समाज मे कला-बाजार और आधुनिक कला की समाज मे ग्रहणशीलता की स्थितियां बहुत भिन्न हैं।

यह सही है कि कोई कलाकार बहुत थोडा काम करके भी अच्छा काम कर सकता है। लेकिन उसे मैं अपवाद ही मानूगा। और एस कलाकारो का जिनका काम हम गहरी दिलचस्पी लेने लायक उल्लेखनीय काम लगता है, मेरे ख्याल म कभी भी बहुत कम काम नही रहा। और जो काम सामने आया है वह कम रहा है तो इसका मतलब यह नही कि व कम काम ही करते रहे है। इसक पीछे और भी बहुत-सा देखा-अनदेखा काम रहता रहा है। पश्चिमी समाजो मे आधुनिक कला को एक दूसरी तरह स ग्रहण किया जाता है यह सही है लेकिन

कलाकारो—नये कलाकारो के लिए खास तौर पर हर तरह की चुनौतिया वहा भी कम नही है।

आप स्वय नियमित काम करने वालों मे से रहे हैं। काम करने के लिए किसी खास क्षण और मन स्थिति का इतजार आपको रहता है ?

मैंने बराबर यह कोशिश की कि काम करने का एक लगभग नियमित ढग मैं बनाए रख सकू। चाहते ही काम शुरू कर दू ऐसा तो शायद हो नही सकता। लेकिन काम करने मे तो बहुत कुछ शामिल रहता है। एक अरसा मैं रोज ही अपने काम करने की जगह—स्टूडियो—म बिताता रहा हू। बने-अधबने चित्रो के बीच बैठना, उन्हे देखना। जब चित्र पर काम न कर रहे हो, यह भी काम है। रेखाकन करना या ऐसा ही कुछ और।

हा, मुझे याद है। गोल मार्केट वाले स्टूडियो मे तो आप रोज ही कुछ घटो के लिए आते थे। आप शायद काम बराबर ईजल पर कनवस रखकर ही करते हैं—कभी उसे जमीन पर बिछाकर या दूसरी तरह से नहीं।

हा, अधिकतर मैं इसी तरह काम करता हू।

और अक्सर रग आप छुरी (नाइफ) की मदद से ही लगाते हैं। ब्रश का इस्तेमाल

नाइफ का इस्तेमाल ही अधिक रहा है।

कनवस पर रखने के लिए कोई भी पहला रग चुनने के पीछे कभी कोई खास बात आपको नजर आई ?

कुछ रगो मे मे एक चुनता हू। एक पहला रग चुनना पडता है लेकिन वह बहुत हद तक अनायास ही होता है। और कई बार तो पहले चुना हुआ रग कैनवस पर दिखना भी बद हो जाता है—अत तक पहुचते पहुचते।

यह मुझे मालूम है। कनवस के आकार को लेकर कोई बात आप पहले से सोचते हैं ?

किसी भी चित्र के बारे मे कह सकता हू कि पहले स सोची हुई बातें बहुत धुधली या अस्पष्ट रहती हैं। सब कुछ चित्र बनाने के दौरान ही तय होता है। जहा तक कैनवस के आकार का सवाल है, कुछ आकारा मे कैनवस मैं बनवा

कर रख लेता हू कभी-कभी एक खास आकार म काम करन की इच्छा हो सकती है—एक उत्सुकतावश । लेकिन उस आकार म भी मुझे कोई खास चीज बनानी रहती है, पहले से सोची हुई—ऐसी बात नही ।

हर कलाकार की जाने अनजाने एक शली बननी है । कई बार लगता है कि किसी समय उसके आडे भी आने लग सकती है ।

हा, एक शैली तो बनती है लेकिन अत तक वही बनी रहती है—ऐसा भी शायद नहा होता । शुरू मे मैं ही आकृतिमूलक काम करता रहा, फिर सैंरा (लडस्केप) का एक खास तरह का दौर आया जसे बनारस सिरीज के चित्र का । मेरे बहुत से पुराने चित्रो की शैलियो के तत्त्व तब एक एक कर छूटत गए ।

हां, और अब वहां स्पेस ही प्रमुख हो उठा है । यहा तक कि निरा शाब्दिक अर्थों में भी स्पेस—ऐसा कई बार मुझे लगता है । आकाश, पहाड और जैसे धरती के विस्तार—मोटे तौर पर इन्हीं की प्रतीतियां हैं ।

हा इन दिना अक्सर मुझे एक बात और भी लगती है कभी कभी कि निरा रग (या रगा) स ही कुल कैनवस को भर दू । य रग पट्टिया, एकाध रेखारूप मामूली आकार-रेखाए आदि भी न रहें जो अभी हैं ।

ऐसा क्यो लगता है आपको ?

शायद सीमा तोडने के लिए । अपनी ही बनाई सीमाए तोडने के लिए । लेकिन केवल 'लगता' ही है यह—इसका शायद और कोई मतलब नही, क्योंकि तब निरा खाली कैनवस ही क्या बुरा है ?

एक बिलकुल अलग-सी बात—एक प्रसग मे समुद्र की चर्चा होने पर भी यह बात ध्यान मे आई थी—तरना सीखा आपने ?

नही, मुझे तरना नही आता । कभी समुद्र के किनारे की जगहो म जाते हैं तो नहाते भर है, तैर नही पाते । इसका अफसोस भी कई बार होता है ।

सवारी गाडिया कौन-कौन-सी चलाइ आपने ? मोटर चलाना तो आपने कुछ समय पहले ही सीखा है शायद ।

हा पहले मुझे नही आता था । सायकिल बहुत चलाई है । जिन दिना हम दिल्ली आए उन दिनो सवारी के नाम पर सायकिलें और तागे ही थे ।

अभी कुछ दिन पहले आप बता रहे थे कि हुमायू के मकबरे की ओर आप गए एक सुबह, और आपको बहुत अच्छा लगा। मुझे ध्यान पडता है कि इसी तरह एक दिन आपने निजामुद्दीन स्टेशन की ओर जाकर घूमने की बात की थी—शायद बारिश के दिन थे वे।

दिन के किसी भी समय, किसी भी इलाके मे कुछ देर के लिए बिना उद्देश्य अकेले घूमते हुए बहुत सी बातें साफ होने लगती है, मन म नयी स्थितिया, नयी समस्याए भी उभरती है। यह मेरे लिए उतना ही जरूरी है जितना कि स्टूडियो के भीतर काम करना।

आधुनिक कला की बढती गतिविधियो के बीच मुझे एक बात बराबर खटकती है—और अब और ज्यादा खटकने लगी है—दशको के अभाव की बात।

दरअसल हमारे यहा नाटक, कला, फिल्म, सभी के लिए शहरो म एक छोटा-सा ही वग है। वह बढा है, लेकिन उसका बढना अभी सच्ची दिलचस्पी का प्रमाण नही दे पाया। एक खास तरह का ही वर्ग है यह। दशको का अभाव खटकता जरूर है। इसी के साथ जुडे हुए कुछ दूसरे सवाल भी है। दशक और कलाकृति के बीच के सवाल (इस पर मैं एक छोटा सा नोट लिख ही रहा हू—देखें बाक्स)। अभी बेकन ने ही एक इटरव्यू मे कहा है न कि 'सच्ची बात तो यह है कि मैं अपने लिए ही चित्र बनाता हू।' मुझे सही लगती है यह बात।

लेकिन 'अपने लिए चित्र बनाने मे' और दशको के कलाकृति मे हिस्सा लेने मे कोई परस्पर विरोध तो है नहीं।

नही विरोध नही है। प्रदशनिया दशका को इसमे शामिल करने के लिए ही होती हैं। इसे मैं एक स्थिति की तरह ही कह रहा था।

आपके आरभिक चित्रो को, जिनमे आकृतियां थीं, कई तात्कालिक समकालीन सवालो से जोडकर देखा गया। शहरी जिंदगी की स्थितियो से—यहां तक कि बेकारी जसे सवालों से। (इनमे से कुछ चित्र रामकुमार के निजी सग्रह मे भी हैं। कुछ उन्होंने कमरे मे टाग भी रखे हैं। इसी अवधि के दो-एक बहुत अच्छे चित्र 'नेशनल गलरी ऑव माडन आट', जयपुर हाउस, नयी दिल्ली मे हैं और ५८ का एक चित्र 'स्त्री' जो निजी तौर पर मुझे बहुत

अच्छा लगता है ललित कला अकादमी के स्थायी सग्रह मे हैं ।)
क्या आप फिर आकृतिमूलक काम करने की बात सोचते है ?

मैंने सोचकर आकृतियो को अपने चित्रो से नही हटाया था । वे बस चली गई थी । जहा तक समकालीन सवालो की बात है सो मैं यही सोचता हू कि वे इस या उस रूप या शैली के होने से ही तो चित्र मे प्रकट नही होते । एल ग्रेको का उदाहरण मैंने दिया । मन स्थितिया और सवाल भी कलाकार के सामने कभी एक-से तो रहते नही । दरअसल चित्रा को समझने की, उनकी व्याख्या करने की, मुझे लगता है कुछ 'पूव धारणाए' भी सबकी अपनी-अपनी रहती हैं—और कलाकार उनसे दूर किसी और जगह भी स्थित हो सकता है ।

यह बिल्कुल सही बात है । लेकिन मुझे यह भी लगता है कि काम का वजन इन पूव धारणाओ के बाद भी किसी हद तक पहचान लिया जा सकता है । बेकन के चित्र (प्रसगवश उन पर बात हुई इसीलिए कह रहा हू) मैंने तो प्रतिकृतियो के रूप मे किताबो मे ही देखे हैं, लेकिन उनकी दुनिया हमे तुरत अपनी ओर खींच लेती है—उस दुनिया को समझने के सवाल से पहले ही ।

हा, ऐसा होता है । दरअसल व्याख्या से अधिक किन्ही भी चित्रो की दुनिया का अनुभव करना मुझे ज्यादा जरूरी लगता है ।

अनुभव करने की बात पहली है हर हालत मे—व्याख्या की बाद मे । लेकिन कई वार कोई काम हमे कुछ भी अनुभव करने के लिए उक्साता ही नहीं है, ऐसी हालत मे हमे उसे 'छोड' भी देना पड सकता है ।

लेकिन यह दूसरा सवाल है । प्रदशनिया आदि के लगातार देखने से उठने वाला सवाल ।

मैं उस सदभ मे भी कह रहा था इस बीच आपने कई चित्र बनाए हैं, काफी काम किया है

हा, वे तुमने देखे ही आठ दस पिछली प्रदशनी (जो बबई म हुई थी) के बाद । काफी है यह काम तो मैं नही कहूगा लेकिन काम करने की इच्छा इन दिना मेरी बहुत हा रही है ।

इस बातचीत के दौरान बहुत समय लिया है मैंने आपका

(मुस्कराकर) नही, अच्छा हुआ बहुत सी बातें हुईं ।

जिनमे से मैं सब समेट भी नहीं पाऊगा। मेरे लिए तो यह बातचीत बहुत अच्छी रही। बस यही लगता है कि बातें बातचीत के बीच कितनी सहजता से भी आती हैं कई बार। लिखते वक्त उन्हें उतारना मुश्किल है
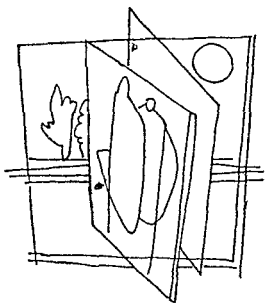
हा, यह एक कठिनाई तो है

कैनवास पर ऊर्जापुंज

रजा से प्रयाग शुक्ल की बातचीत

जिनमे से मै सब समेट भी नहीं पाऊगा। मेरे लिए तो यह बात-चीत बहुत अच्छी रही। बस यही लगता है कि बातें बातचीत के बीच कितनी सहजता से भी आती हैं कई बार। लिखते वक्त उन्हें उतारना मुश्किल है

हां, यह एक कठिनाई तो है
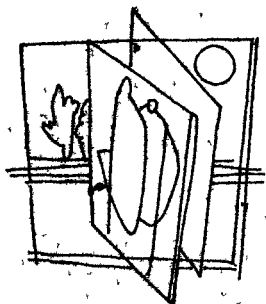
रज़ा एक भारतीय हैं जो अब पेरिस मे जा बसे हैं और इन दोनों संसारों के बीच उन्होने अपनी कला का एक ऐसा पुल बाध लिया है जो न तो आधुनिक कला की विशिष्टताओ को नजरअंदाज करता है और न ही अपनी जड़ों से कतई कटा हुआ है—उनकी कला वस्तुगत स्तर पर समयकाल के परे है और शैलीगत स्तर पर पूरी तौर से आधुनिक।

रज़ा उन चित्रकारो मे अग्रणी हैं जिन्होने स्वतंत्रता के बाद आधुनिक भारतीय चित्रकला को अलग पहचान और आधुनिक भारतीय व्यक्तित्व दिया। आप मध्यप्रदेश के मूल निवासी हैं। मध्यप्रदेश मे बिताए अपने बचपन की यादों, जगलो, आदिवासी हाट बाजारो की आदिम जीवतता, प्राच्य दर्शन की अद्वैतवादी धारणाओं से अपनी कला के लिए एक ऐसा समृद्ध और असीम आधार लोक अर्जित किया है, जो अपनी ऊर्जा और दढता म अप्रतिम है। १९७८ में मध्यप्रदेश कला परिषद् द्वारा राजकीय सम्मान किया गया।

भोपाल, पेरिस मॉन्ट्रियल टोरन्टो केलीफोर्निया जर्मनी, डूसेलडर्फ, इटली, नार्वे, टोकियो लदन, न्यूयार्क मैक्सिको, रबात ऑस्ट्रिया, वाशिंगटन आदि जगहो पर आपकी कृतियो की एकल प्रदर्शनिया भी आयोजित हुई हैं।

रजा से यह बातचीत दिसंबर १९७८ में भोपाल में हुई थी। सारी बातचीत टेप कर ली गई थी। यह बातचीत अचानक शुरू हो जाने वाली और कई बैठकों में समाप्त होने वाली बातचीत नहीं थी। रजा से बाकायदा समय तय करके यह शुरू हुई थी और दोपहर दो के करीब शुरू होकर शाम के कोई पांच बजे तक चली थी। बीच में खाना भी खाया गया था, दो तीन बार चाय पी गई थी और खाने के समय को छोड़कर (हालांकि बातचीत के सूत्र तब भी टूटे नहीं थे) बिना कहीं रुके हुए सवाल-जवाब के रूप में चलती रही थी। रजा उस दिन बोलने के मूड में थे और हर सवाल का जवाब, कह सकते हैं, वह विस्तार से दे रहे थे और एक सवाल का जवाब खत्म हो जाने पर ही वह दूसरे सवाल पर आने को तैयार थे। इस विस्तार से बोलने के फैलाव में—कुछ दुहराव भी होते थे, उन्हें छोड़ दिया गया है। लेकिन यहां रजा के फैलाव के बारे में कुछ कहना जरूरी होगा। रजा कम से-कम इस बातचीत में हर बात को तोल-तोलकर भी कहना चाह रहे थे—खासकर अपने काम को लेकर किए गए सवालों के जवाब में—लेकिन एक बार अपनी बात कह लेने के बाद उसे और भी कई तरह से (या फिर फिर) घेर देना चाहते थे और ऐसी जगहों में ही दुहराव आता था। रजा सौम्य, आकर्षक व्यक्तित्व के धनी हैं और लगभग हर मामले में दूसरों का बहुत ख्याल रखने वालों में हैं। एक नफासत भी है उनमें। लेकिन इंटरव्यू जैसी चीज में उन्होंने एक तरह का कड़ापन (फिलहाल कोई दूसरा शब्द नहीं मिल रहा) बनाए रखा—बीच बीच में आए लचीलेपन और कहीं-कहीं की उन्मुक्त हंसी को छोड़कर। कह सकते हैं एक तरह का चौकन्नापन भी बनाए रखा। उन्होंने बीच में दो-तीन बार यह भी कहा कि आज तक का यह मेरा सबसे अच्छा इंटरव्यू है और अशोक वाजपेयी से इसका कापीराइट सुरक्षित रखने जैसी बात भी कही। लेकिन अगर रजा को यह लग रहा था कि यह उनका दिया हुआ अब तक का सबसे

अच्छा इटरव्यू है तो इसका पूरा श्रय उन्ही को है। मेरी कोशिश तो केवल इतनी थी कि जब वह किसी जवाब को काफी घेर चुके हो तो उन्हे कुछ दूसरे सवालो की दुनिया मे ले जाया जाए। इस अथ मे मुझे यह कहने म हिचक नही है कि यह बातचीत नही रह गई थी। सवाला जवाबा का एक सिलसिला ही अत मे बन सकी लेकिन ऐस सवालो जवाबो का सिलसिला जरूर ही जो रजा की दुनिया मे प्रवेश करने का एक अच्छा मौका हम देती है।

टेप की हुई बातचीत को सुनने के बाद मुझे अपने सवालो की कई कमिया भी नजर आई और लगा कि बातचीत को मैं अधिक प्रासगिक मोड भी दे सकता था। लेकिन इस सबमे एक कठिनाई भी थी। रजा के काम के आरभिक वर्षों और पैरिस म उनकी रचना गतिविधियो से अच्छी तरह वाकिफ न होने की वजह से, कुछ सवाल जाहिर है कि कुछ टटोलते टटोलते ही अपने को आगे बढा रहे थे। और कुछ सैद्धातिक थे। और उनमे वैसी पैठ नही थी जो एक रचनाकार की सपूण दुनिया जानने के बाद आती है। रजा से मेरी यह पहली मुलाकात भी थी—यह औपचारिक बातचीत जिस दिन हुई उससे एक दिन पहले ही हम मिले थे। इन्ही सब कठिनाइया के रहते हुए रजा का सहयोग बहुत महत्त्वपूण हो उठता है और आज मैं उसे फिर एक आभार के साथ याद कर रहा हू। एक दूसरी कठिनाई यह भी थी कि रजा पिछले दो दशको के समकालीन भारतीय कला परिदश्य से अतरग रूप से परिचित नही रहे (जिसे उन्होने स्वय स्वीकार भी किया) इसीलिए कई आशयो को मैं उन तक अच्छी तरह नही पहुचा पा रहा था और कुछेक जगह बातचीत परिचयात्मक या सद्धातिक सवालो की ही हदें छू सकी।

इस बातचीत म उनके जीवन वृत्त से जुडी कई बातो को भी छोड दिया गया है—रजा उनके बारे मे पहल भी लिख-बोल चुके हैं और उनमे से कुछ तो अपरिचित भी हैं (और जीवन वृत्त अलग से भी दिया जा रहा है) रजा बातचीत मे अग्रेजी मे ही काफी बोले—आधी से कुछ अधिक बातचीत अग्रेजी म ही थी उसे तो हिंदी मे रखना ही पडा। हिंदी मे जो कुछ उन्होने कहा (वह हिंदी बहुत अच्छी बोलते हैं) वह भी टेप के बावजूद शब्दश उन्ही की भाषा नही है। इसका कुछ कारण तो पहले टेप की रिकार्डिंग है जो अच्छी नही हो पाई। एकाध जगह तो ऐसी भी है जहा कुछ शब्द नही सुन पडते। फिर यह भी कि इटरव्यू जैसी चीज मे एकरूपता के लिए भी यह जरूरी था। कि भाषा के लिहाज से उसके कई हिस्से न बन जाए। यानी ऐसा न हो कि कही अनुवाद की भाषा लगे तो कही मूल की। टेप की हुई बातचीत का सपादन यो भी जरूरी हो जाता है—बातचीत के मुख्य पहलुओ के एकत्रीकरण के लिए एक भिन्न क्रम भी कई बार अपेक्षित होता है। इसी एकत्रीकरण के लिए

कुछेक जगहो पर (लेकिन कुछेक जगहा पर ही) आगे पीछे के सवालो जवाबो को आपस मे मिला भी दिया गया है। लेकिन मैंने पूरी कोशिश की है कि रजा का लहजा दीख पडे, बात कहने का अदाज और उनकी कही मुख्य बातें इसमें बनी रहे।

सयोग से अगस्त, '७६ में मेरा पैरिस जाना हुआ। मैंने सोच रखा था कि रजा से भेंट हो गई तो यह बातचीत कुछ अधिक सपूर्ण हो सकेगी। लेकिन रजा उन दिनो पैरिस में थे नही। और यह इच्छा अधूरी रह गई थी। बहरहाल, इटरव्यू का परिचय शायद कुछ लबा हुआ जा रहा है सो अब बातचीत पर आए। इस बातचीत के वक्त हम चार लोग थे। [रजा, मैं, अशोक वाजपेयी और रश्मि वाजपेयी।]

●●

बिल्कुल शुरू से शुरू करते हैं।

जहा से आप चाहे मैं तैयार हू। (कुछ ठहरकर) हम लोग यहा कितनी देर रहने वाले हैं?

जब तक आप चाहे, कोई जल्दी नहीं है, जब तक बातचीत चले।

फिर भी कुछ तो तय करना होगा। कही तो खत्म करेंगे—(सम्मिलित हसी) शाम तक रहेंगे? हा, यह ठीक है।

शुरू से ही शुरू करता हू—आपका पहला या पहले चित्र कौन से थे? नहीं, स्कूली दिनों के नहीं, वे चित्र जिन्हें आपको सचमुच प्रदर्शनी मे रखने की इच्छा हुई हो। या अगर इसे इस तरह कह सकते हो, जहा से कि आप अपने चित्रकार जीवन की शुरुआत मानते हों

ठीक है। पहली पेंटिंग? देखिए कुछ न कुछ काम तो मैं स्कूली दिनो मे भी करता ही था। फिर स्कूल आव् आर्ट के दिनो का भी बहुत सा काम था। ४८ ४६ म मुझे याद है मैं १६ १७ घटे काम करता था। श्रीनगर में जहा मैं रहता था, वहा खटमल बहुत थे। रात को २-३ बजे भी उठ जाता और काम करने लगता था। नीद नही आती थी। प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट के ग्रुप के दिन भी बहुत काम वाले दिन थे। प्रतिभाशाली युवा कलाकारो की एक पूरी मडली का साथ था। बडा जोश था। एक एडवान्स्ड डायनैमिक ग्रुप थे हम। कुछ कर गुजरने की धुन थी। १६४६ म मुझे याद है मैंने कोई ३०० चित्र बनाए थे।

बबई आर्ट सोसायटी मे प्रदर्शित हुए भी थे काफी। कुछ उन लोगो ने रख भी लिए थे। मालूम नही अब कहा हैं ? किसके पास हैं ? लेकिन म स्वीकार करू कि उन दिनो जोश ही था कोई कसेप्ट नही था। इसीलिए म मानता हू कि सचमुच पहली पेंटिंग तो मने परिस म '५२ मे बनाई ठीक-ठीक यह जानते हुए कि म दरअसल क्या करना चाहता हू ? क्या बना रहा हू चित्र ? शुरू मे आपको मालूम ही होगा कि म लडस्केप बनाया करता था। अब सोचता हू तो शायद बहुत कुछ उसी तरह (ठीक उसी तरह नही) लडस्केप को देखा करता था जैसे कैमरा देखता है—कैमरे की आंख देखती है। '५२ मे पेंटिंग की असलियत को समझा, उसके आतरिक जीवन को समझा।

पहले तो आप जलरगों में काम करते थे ?

हा, जलरगो मे, टेंपेरा मे '५२ के चित्र टेंपेरा मे ही थे। लेकिन मुझे याद है कि कुछ वर्षों के बाद मने टेंपेरा मे काम करना छोड दिया था। एक कारण यह भी था कि यूरोप मे टेंपेरा को गंभीरतापूवक नही लिया जाता था फिर तैल माध्यम आजमाने की इच्छा का भी योग रहा होगा और तैल माध्यम अपना लेने पर लगा भी कि म अब जिस दृष्टि से काम करना चाहता था, उसके यही अनुकूल रहेगा। बहरहाल, टेंपेरा मे काम करना मने छोड दिया। पेरिस मे कुछ ही वर्षों बाद मुझे जो स्वीकृति मिली, वह तैलचित्रो के माध्यम से ही क्रिटिक्स एवार्ड (१९५६) मिला मुझे। उन दिनो उसका बडा महत्त्व था, अब तो उसके महत्त्व मे कमी आ गई है। उन दिनो इस एवार्ड के मिलने का मतलब था—सबका ध्यान अपने काम की ओर हो जाना।

अब तो आप एक्रिलिक रगों मे ही काम करते हैं ?

हा, पिछले कोई दस वर्षों से केवल एक्रिलिक म। तो मैं बता रहा था कि ५१-५२ से पहले दरअसल पेंटिंग की असलियत को समझता नही था। प्रकृति के, रगो के, सरो के कुछ प्रभाव थे जिन्हे मैं एक चित्रनिर्मित (कस्ट्रक्शन) म बदल दिया करता था। यह तो बाद म ही जाना कि आप्टिकल रिअलिटी (आख-यथाथ) अपन आप मे काफी नही है या कि वह पूरा यथाथ नही है। जो चीज चित्र को चित्र बनाती है वह केवल ऊपर से दीख पडने वाली चीज नही है। जब चित्र अपनी सास ले, तभी वह चित्र है। मैंने '४८ से लेकर '५१ तक बहुत काम किया। केरल, मद्रास, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश (का तो था ही) राजस्थान की कई जगहा और शहरा मे गया। श्रीनगर, पहाडो के चित्र बनाए। ढेरो प्रभाव थे और मन मे ढेरो दृश्य घूमते थे। उन्हें चित्रो मे ले आता था—कोई बिल्कुल हूबहू लाने की कोशिश तो नही होती थी लेकिन शायद

करता यही था कि उन प्रभावा को चित्र म इकटठा कर दिया करता था—बना दिया करता था। ५२ म पैरिस पहुचकर बहुत-सी बातें मन म चलने लगी। लगा कि अब तक जो म करता रहा हू उसके बीच कही खो गया हू—रास्ता भूल गया हू। लगा कि आप्टिकल रिअलिटी से छुटकारा पाना होगा, अदर की बात ढूढनी होगी '५४ तक आकर म पागलो की तरह काम कर रहा था चित्र के आतरिक जीवन (इनर लाइफ) की तलाश मे था। चित्र की सगीतात्मक सरचना को समझ रहा था। रगो के साथ एक नया सबध बना रहा था। जान रहा था कि जब तक चित्र सांस नही लेगा तब तक सब अवारथ है। चाक्षुप यथाथ (विजुअल रिअलिटी) के मम को दूसरी तरह से पहचानना चाह रहा था। म किसी चित्र को 'राजस्थान' कहू तो उसमे महल, भवन, मोर आदि दिखाई ही दें यह जरूरी नही होगा। चित्र साम ले रहा हो, उसन काई बात पकडी होगी राजस्थान की तो यह सब-कुछ नही भी दिखाई देगा और फिर भी सब-कुछ दिखाई देगा तो कुछ ऐसी बातें थीं जो समझ म आ रही थी या जिहे समझने-करने की चेष्टा म कर रहा था। ४८ तक या उसके आसपास तक मेरे लिए नीला आकाश नीला आकाश था, सफेद मदिर सफेद मदिर था। तो इस सबस छुटकारा पाना था। रग केवल इतना या इसी तरह नही होते चित्र म। समझा कि जब दो रग मिलते हैं तो इसी तरह नही कि दा चीजो के रग मिल रहे हैं, वे इस तरह भी मिलते हैं जसे दा इसान मिल रहे हा। ता असल चीज है दष्टि (विजन) कोई कसेप्ट, लेकिन यहीं यह भी जोड दू कि जो शुरू के दिन थे, शुरू का काम था उसमे भी रचना के कई सवाल उठते ही थे। ग्रुप के साथिया के साथ बातचीत, अहिवासी जी का काम प्रो० लगलाइमर जो नयी नयी चीजा के लिए उकसाते थे, राम कुमार क साथ दोस्ती (जो भारत स शुरू होकर पैरिस तक चली आई। मेरे परिस पहुचने के बाद कुछ अरसा बाद रामकुमार भी यहा रहने के लिए आए)—ये सब बातें आज भी याद आती है।

प्रकृति से निकट सबध की बात आपने अपने चित्रो के सदभ मे की है ? इस सबध को आप किन किन रूपो मे देखते रहे हैं ?

हा, यह सबध तो कई तरह से कई तरह का रहा। दखिए मेरा बचपन बहुत कुछ जगलो म बीता। पिता जगलात के महकमे म थ। मडला के आसपास के घने जगल वहा के दिन रात। सो प्रकृति के बहुत से रग रूप मैंने देखे। दूसरे प्रदेशा की यात्रा की बात मैंने की ही श्रीनगर क दिन राजस्थान इन सब जगहा के रग रूपो ने मुझे बहुत प्रभावित किया। यह प्रभाव तो खत्म होन वाला नही। शुरु म प्रकृति के लडस्केप करता था बाद की बात मैंने

बनाई ही कि प्रकृति मे देखे रगो ने कैसे अपने नये अर्थ मेरे लिए मेरे काम मे प्रकट किए।

क्या काम करते हुए कुछ जगहों, चीजो की खास स्मृतिया भी रहती हैं ?

आप कभी सपना देखते है (सम्मिलित हसी) तो समझिए कुछ सपने जसी बात भी रहती है काम करते वक्त कितनी ही चीजें आती हैं अनायास किसी क्रम *या खास पहचान मे नही। हालाकि यह एनालॉजी भी पूरी तरह सही नही।* मैं एक सपने की सी मन स्थिति मे तो काम नही करता, और भी प्रक्रियाए रहती हैं। हा, काम करते हुए मैं किन्ही खास स्मृतिया के साथ आगे नही बढ़ता।

अपने काम करने के ढग के बारे मे कुछ कहना चाहेंगे ? आप रोज काम करते हैं ?

ठीक है, मैं आपको अपने स्टूडियो का पूरा वातावरण ही बताता हू। देखिए, मेरा स्टूडियो मेरे घर से बहुत दूर है। पहुचने मे कुछ समय लगता है। कई बार देर भी हो जाती है। लेकिन मैं कोशिश करता हू कि पहुचू जरूर। मैं काई १ बजे तक अपने स्टूडियो पहुचता हू। पहुचकर सीधे ही काम करना शुरू कर दू ऐसा तो है नहीं। कइ बार पहुचकर अधूरे काम को देखता हू और अगर कोई नया कैनवास शुरू कर रहा हू तो कई बार, कभी आधा घटा, कभी एक घटा भी उसके सामने बैठकर बिता देता हू। मैं अक्सर फश पर बैठकर ही काम करता हू, कभी मेज पर चित्र को रख देता हू। मेरे स्टूडियो मे सिवाय एक बेंच के और मेज के और कोई चीज नही है। *यह आपको* पैरिस वाले स्टूडियो की बातें बता रहा हू। गोरबियो मे जब जाते हैं रहते हैं तो वहा घर और स्टूडियो एक ही है—घर पर ही मेरा स्टूडियो है। स्टूडियो की दीवारें बिल्कुल सफेद हैं, फोन है। पहले यह फोन मैंने पैरिस की डायरेक्टरी म दज नहीं करवा रखा था—और इसके लिए कुछ अतिरिक्त पैसे मुझे देने पडते थे। यह प्रबध मैंने इसीलिए किया था कि काम करने म कोई व्यवधान न पडे और जब तक बहुत जरूरी न हो मेरा कोई परिचित भी मुझे फोन न करे, अब पैरिस की डायरेक्टरी म मुझे इस दज करवाना पडा है, क्योकि अब मेरा काम, उसका प्रदशन, बिक्री—कोई गैलरी नही सभाल रही, मैं स्वय ही अब अपने काम का प्रबधक हू। लेकिन मरे परिचित मेरे काम करने का वक्त जानते हैं और वे मुझे अब भी काम करने के वक्त फोन नही करते। काम करने के वक्त मैं हर तरह स अकेला रहना चाहता हू। सफेद

कैनवास पर अक्सर मैं हल्के पीले रग का इस्तेमाल करता हू—उसी से कुछ करने की शुरुआत होती है। इमेज की शुरुआत। बाद मे अपेक्षित रग आते है। मैं ब्रश स सीधे काम करता हू। पेंसिल से चित्र पर कभी कुछ नही बनाता। चित्र समाप्त होने का कोई जाहिर है कि तय नही होता। किसी-किसी पेंटिंग के समाप्त होने म काफी समय लग जाता है। कभी मैं किसी चित्र को एक ही दिन म समाप्त कर देता हू। मसलन, राजस्थान' शीर्षक चित्र मैंने एक ही दिन म बनाया था। तो बचपन के अनुभवो को, बाद के अनुभवो को अलग-अलग शक्लें मिलती रही हैं। किसी एक अनुभव, या याद को ही नही। जिस दृष्टि और कसप्ट की बात म कर रहा था, उसकी माग ही यही है कि कई चीजें चाक्षुप स्तर पर अपनी तमाम अदरूनी शक्ति के साथ एक-दूसरे से गुथकर आए।

रेखाकन करते हैं आप ?

ड्राइग्ज, स्केचेज करता जरूर रहता हू। लेकिन उन्हे दिखाता नही।

किसी समाज से कलाकार की अभिन्नता, उससे तादात्म्य, कहे उससे एक आइडेंटिफिकेशन की बात को आप किस तरह देखते हैं ?

कलाकार के काम करने की अपनी ही शर्तें होती है। वह इसलिए तो अपनी कला को तोडता मरोडता नही कि समाज उसे मान ही ले। म सोचता हू कि अगर किसी समाज को लगता है कि कोई कलाकार है जो उसके लिए मानी रखता है तो वह स्वय उसे ढूढेगा। उससे तादात्म्य स्थापित करेगा। होना भी यही चाहिए। मसलन म पैरिस म रहते हुए यह तो सोचता नही कि क्या करू, कि कैसा करू कि फ्रासीसी समाज मुझे अपना भी ले। और न यह ही सोचता हू कि क्या करू जो भारत म पसद किया जाएगा। फिर भी देखिए म अपनाया ही जाता हू। मुझे नही लगता कि म भारत स दूर हू। भोपाल म बुलाया गया हू, अपनाया गया हू तो कितनी खुशी होती है। लगता है जरूर ही कुछ ऐसा किया होगा कर रहा होऊगा कि मुझको लेकर—मेरे काम को लेकर—दिलचस्पी है।

इसे इस तरह भी देख सकते हैं क्या, कि कोई समाज कलाकार को कितना महत्त्व देता है। इससे कलाकार की स्वतत्रता का सवाल जुडा हुआ है, किस तरह कलाकार स्वतत्र रहते हुए भी समाज को प्रभावित करता है, मसलन पश्चिमी समाजो मे ऐसा लगता है कि

कलाकार एक ऋशियल परसन है ?

हा, लेकिन वहा भी हर कलाकार तो नही । इतना जरूर है कि चित्रकार होने की ही बात को एक खास आदर से देखा जाता है । मेरा काम कही अटका होता है और म जाकर कहता हू कि मैं चित्रकार हू तो मुझे कोई असुविधा न हो कुछ इस भाव के साथ मेरी बात पर ध्यान दिया जाता है । लेकिन इसका मतलब यह नही कि वहा कलाकारो के जीवन मे सघप नही है । हजारो की सख्या मे चित्रकार हैं—तरह-तरह की कठिनाइया भी उन्हें झेलनी पडती हैं । कोई आसान जीवन नही है । दरअसल पेंटिंग धधे (प्रोफेशन) की बनिस्वत एक नियोग (वोकेशन) अधिक है । वह वोकेशन ही है । इसलिए समाज स उसका रिश्ता कुछ और ही तरह का यो भी होता है ।

आज फ्रासीसी या मोटे तौर पर पश्चिमी कला स्थिति को लेकर आप क्या सोचते हैं ? पहले की तरह कलाकार मडलियां अब सक्रिय नहीं लगतीं और कला आदोलन (मूवमेंटस) भी लगता है क्षीण [हो रहे हैं । हैरल्ड रोजेनबग (सुप्रसिद्ध अमेरिकी कला समीक्षक—अब स्वर्गीय) ने एक बार कहा था, यूनिवसल नहीं, एक ग्लोबल आट, को ही चौतरफा फैलने दिया जा रहा है । गलरियों और सग्रहालयो के तत्र द्वारा ।

यह एक दिलचस्प पहलू है । दरअसल किसी भी समय कलाकारो की एक ऐसी जमात तो बराबर रहती है जो प्रचलनो (वोग) को ही सब कुछ मानती है और उनका अनुसरण करती है । पश्चिम मे भी ऐस कलाकारो की कमी नही है और चौंकाने वाला काम भी बहुत ज्यादा हो रहा है । बाडी आट, सुपर रिअल्जिम जैसी चीजें हैं । एक दिन का तमाशा बताता हू । एक स्त्री कलाकार एक हाल के बीच मे खडी थी—निश्चित फक देकर वह चाहने वालो को एक चुबन दे रही थी । सिक्के दीजिए और कलाकार का चुबन लीजिए । टी० वी० के लोग थे वहा—वह सब फिल्माया जा रहा था । चुबन देने के इस कायक्रम को ही कलाकृति की सना दी जा रही थी क्योकि यह चुबन एक कलाकार दे रही थी । ऐसी चीजें भी होती हैं कि एक स्त्री खडी हो जाती है हॉल या गैलरी के बीच—उसके पास तश्तरी मे एक छुरी, सेब या कोई दूसरी चीज लाई जाती है वह छुरी उठाती है लोग सोचते हैं कि वह सेब काटेगी पर वह अपने शरीर मे ही कही छुरी खोप देती है—खून बह निकलता है, जिसे वह आसपास खडे लोगो के कपडा मे छीट देती है ऐसी भयानक फिजूल चीजो का भी गिवार कला के नाम पर आज यूरोप हो गया है ।

पिछले वेनिस बियेनाल मे एक कलाकार एक साड ले आए थे ।

हा, वह भी हुआ । लेकिन कुछ ऐसा भी है कि ऐसी चीजें चलती नही ज्यादा देर तक । ये तो बडी सतही चीजें हुइ, एक दूसरा उदाहरण लें जो कला का भी है । वैसेरली आज स्वय लखपति हैं, लेकिन किनेटिक मूवमट समाप्तप्राय सा है । फासीसी कला परिदृश्य म वह कही बहुत पीछे चला गया है । एक रचनात्मक सक्ट तो है ही । जहा तक एक तरह के ग्लोबल आट की ही फलाए जाने की बात ह वह सही है लेकिन इसी के साथ अगर उन देशो को लें जो पश्चिमी आधुनिक कला स कही प्रभावित हुए—और बहुत ज्यादा प्रभावित हुए—तो एक दूसरी चीज भी सामने आती है कि इन देशो मे मसलन ईरान, लका या भारत के कलाकारो की अपनी चारित्रिक विशेषताए दब नही गइ ।

म स्वय कलाकार मडलियो के बारे मे क्या सोचता हू ? दरअसल कलाकार मडलियो का नामकरण तो एक सुविधा के लिए ही होता है—हम कई रुझानो को एक साथ बेहतर समझ पाते है । लेकिन कलाकार मडलियाँ बराबर टूटी है—उन्हे टूटना ही पडता ह । कलाकार अलग अलग राहो की ओर निकल जाते हैं । कलाकार मडलिया तो आज भी बनती है, तथाकथित मूवमटस के नाम पर लोग इकटठा होते है लेकिन उनमे वैसी जान जरूर नही दिखती ।

किसी कलाकार पर पडने वाले अन्य कलाकारो के प्रभाव के बारे मे आप क्या सोचते हैं ?

प्रभाव तो रहते है । म प्रभावो को बुरा नही समझता । अच्छा तो यह है कि हम खुलकर स्वीकार करें कि हमारे ऊपर कौन से प्रभाव पडे है । लेकिन प्रभाव पडने का मतलब अपने को खो देना नही है । मसलन म मानता हू कि एक भारतीय को मिटा देना असभव है (इटस इम्पासिबिल टु अन डू एन इडियन) । म तो कहता हू, सब चीजें ग्रहण करनी चाहिए । खुला रखना चाहिए चारो ओर को ।

यत्रविधि का एक आक्रामक हमला आज चारो ओर दीख पडता है । रचनात्मक दुनिया मे इससे कई तरह के खतरे दीख पड रहे हैं—ये और भी बढ सकते हैं ?

खतरा से क्यो घबराना । जीवन ही खतरो मे रहता है । जहा तक यत्रविधि का सवाल है म नही समझता कि कला को उसस कोई बडा खतरा है । बहुत सी ऊटपटाग चीजें होती जरूर रहती हैं । देखिए आज म पैरिस से एक दिन मे भोपाल पहुच सकता हू तो यह एक सच्चाई है, हवाई जहाज है फोन है । मैं पैरिस मे बठा हुआ भी आपसे बात कर सकता हू । इसी तरह यत्रविधि की

दी हुई और तमाम चीजें है, जिनमे से भारत भी बहुत-कुछ अपना रहा अपनाना पडेगा भी।

आपकी पसद के कलाकार कौन से रहे हैं? भारतीय या बाहर के?

दोनो में।

पहले मैं भारतीय कलाकारो से ही शुरू करूगा, मैं समझता हू कि आज ह यहा बहुत अच्छा काम हो रहा है। देखिए एक चीज होती है चित्रकार लाना, और एक चित्रकार होना यानी जब कोई चित्रकार कहे—कह सके कि मैं चित्रकार हू तो यह एक बडी बात है। ता आज हमारे यहा १५ चित्रकार ऐसे होगे जा कह सकते हो कि मैं चित्रकार हू। हुसन हैं सबसे प जिन्होने बडा महत्त्वपूण काम किया है। बहुत ज्यादा काम किया है। बाडी ऑव वक है उनका। मुझे तैयब मेहता और भूपेन्द्र खख्खर का काम बहुत अच्छा लगता है, जिस कसेप्ट के होने की बात मैं कह रहा था, व उनके पास। फिजूल के अमूतन के दौर मे, वह आकृतियो को लेकर महत्त्वपूण कर रहे है। तैयब मेहता का काम भी देखिए कितना अच्छा है। रामकुमार, कृष्ण खन्ना, स्वामीनाथन् का काम भी मुझे पसद है। हैद वाद के सूयप्रकाश और लक्ष्मा गौड, कलकत्ता मे हमारी पीढी के परितोष उनके बाद भी पूरी एक पीढी है क्या नाम है उनका?

गणेश पाइन।

हा, वह है लेकिन कोई एक और युवा चित्रकार शुभा या ऐसा ही कुछ।

शुभ प्रसन्न?

हा, शुभा प्रसन्न अच्छा लगा उनका काम मुझे। बबई मे उनकी प्रदश देखी थी। मद्रास मे चोलमडलम के कलाकार। बबई मे अकबर पदमसी हैं- कुछ और युवा लोगो का काम भी देखा था पिछली बार, मुझे बहुत अच्छ लगा था। नाम भूल रहा हू, एक और कलाकार हैं, हाशमी, यही नाम है?

जरीना?

हा, वही जरीना हाशमी। हमारे पुराने साथी कृष्ण रेड्डी आजकल न्यूयाक हैं। पैरिस मे रह रहे चित्रकारो मे से धवन और विश्वनाथन हैं। बहुत अच्छ काम कर रहे हैं। बडौदा के सुब्रह्मण्यम का टेराकोटा वाला काम मुझे बहु

अच्छा लगा। और विवान सुदरम् का। कितने ही लोग हैं, म० प्र० को ही लीजिए नामदेव और चौधरी हैं। जब मैं पिछली बार यहा आया था तो भी उनका काम बहुत अच्छा लगा था। आज उनका काम देखकर तो यही कहने की इच्छा होती है। (रजा न शाबासी के अदाज मे खास तरह स चुटकी बजाई) तो आज तमाम भारतीय चित्रकार एक दृष्टि के साथ काम कर रहे हैं---साम विजन के साथ। मैं इस दृष्टि में कई चीजो को शामिल करता हू चित्र की चित्रता पर जोर,,जो कुछ वहा बनाया जा रहा है उसके आधार पर जोर। बाहर के कलाकारा म ता कई नाम हैं।

कल आप कोकोश्का का नाम ले रहे थे।

हा, कोकोश्का का काम मुझे पसद रहा है। लेकिन यूरापीय कलाकारा मे रोथको, राशेनबग नेवेलमन का काम मुझे पसद है। मुझे जमन एक्सप्रेसनिस्ट कलाकारो का काम भी पसद रहा है। और एलिंस्की और सीना का। इटली के कलाकारा का। मूर्ति शिल्पी हेयरी मूर और मारिनी मारीनी का। फ्रासीसी प्रभाववादियो का। हा, भारतीय कला स्थिति के बारे मे एक बात और, न केवल यही कि अच्छा काम हा रहा है, उसके प्रदशन, रख रखाव के क्षेत्र म भी बहुत कुछ हुआ है। नेशनल गैलरी ऑव माडन आट म बहुत अच्छा काम कर रहे ह डा० सिहारे। आज इस सग्रहालय की तुलना किसी भी अच्छे सग्रहालय से की जा सकती है। भोपाल म भी अच्छा सग्रह धीरे धीरे बन रहा है। मैं समझता हू आज हमारे कलाकार भी कही अधिक अच्छी तरह काम करने की सुविधाओ के साथ रह रहे हैं। मैं जब भी यहा आता हू एक बेहतर कला वातावरण के बीच अपने को पाता हू।

अब आपके काम मे एक नया ही मोड है। रगों को आप दूसरी तरह से व्यवहार में ला रहे हैं?

कल मैं कह रहा था न कि मैं न बोलू चित्र बोलें। फिर भी आप लोगो ने इतना बुलवा ही लिया तो बोलना अच्छा लग रहा है। मैं चाहता हू कि जिस चीज पर भी बोलू साफ साफ अपनी बात कह सकू। क्लिअर थिंकिंग को पसद करता हू मैं। मैं चाहता हू अपने नये चित्रो पर ५ साल बाद बोलू। वैसे जितना काम आपने अभी भोपाल मे देखा है, वह मेरे नये काम का एक हिस्सा ही है लेकिन हा, एक रेप्रेजेंटेटिव हिस्सा। क्या कहू? बहुत सी बातें ह। मैं कह रहा था न, रगो के प्रयोग का मैं तरह तरह से जाचता रहा हू। रगो की दुनिया बहुत बडी दुनिया ह। रगो को अपने काम मे मैं बहुत महत्त्व देता रहा हू।

बिंदु को हमारे यहा बहुत महत्त्वपूर्ण माना गया है। उसमे कितना बडा फैलाव सिमटा हुआ है। बिंदु और मडल। किसी बिंदु से नि सृत होकर ही एक ऊर्जा चारो ओर फलती है। आप कह सकते है कि मैं रगो का अब इस तरह देख रहा हू कि वे ऊर्जा पुज हो। आप देख ही रहे है कि अब ज्यादातर किसी चित्र मे एक प्रमुख रग का इस्तेमाल है—मसलन काले का। मैं शायद यह भी करने की कोशिश कर रहा हू कि इन ऊर्जा पुजो को समान रूप से कैनवास पर फैलने दू। तरह तरह के उलझाने वाले सवालो से बचकर रगो का एक सीधा व्यवहार करू—कुछ इस तरह कि चित्र के किसी खास हिस्से पर ही आख न अटके। मूल को ही पकडना चाहता हू मै अब लेकिन हर हालत मे चित्रता के माध्यम से। मै किसी बात को रूपक बनाकर नही कहना चाहता चित्र मे बात को पिक्टोरिअल स्तर पर ही पाना चाहता हू वैसे मै पहले भी कह रहा था न कि इस सब पर मै ५ साल बाद बोलना चाहता हू।

आपकी और कौन-सी रुचियां हैं ?

सगीत ! भारतीय सगीत सुनने का बडा शौक है। पढना भी मुझे अच्छा लगता है। कविता पढने मे विशेष रुचि रही है। यह शौक तो शुरू से रहा। इस शौक को डालने मे हमारे शिक्षक लहरी जी का बडा हाथ था। स्कूल के वे दिन मुझे कभी भूलते नही है। पुरानी कलावस्तुओ का सग्रह करने मे। कई शौक रहे है।

मै समझता हू, हम लोगो ने काफी बातें कर ली है—बहुत सी बातें। अशोक जी, कि इस इटरव्यू का कापीराइट रखें।

एक कप कॉफी मिल सकती है ?

जरूर लीजिए क्यो नहीं।
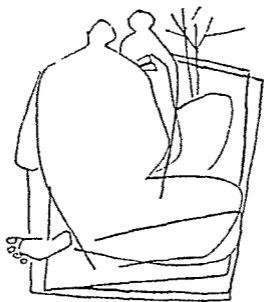
मनुष्य का मनुष्य से एक संबोधन

ज० स्वामीनाथन् से प्रयाग शुक्ल की बातचीत

ज० स्वामीनाथन का पूरा नाम जगदीश स्वामीनाथन है। वे उन थोड़े से कला-कर्मियों म से हैं जो बीसवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे मनुष्य की अतरात्मा और कला माध्यम के प्रश्नो का अटूट दमन म ममय हैं और जिनका कुछ भी सोचना कहना-करना हमारे लिए गहरा अथ रखता है। समकालीन कला ससार म स्वामीनाथन की उपस्थिति एक विचारोत्तेजक घटना है।

श्री स्वामीनाथन् ने कॉलेज छोडकर सक्रिय राजनैतिक जीवन अपनाया। फिर पत्रकारिता से भी जुडे रहे। स्वय भी एक कला पत्रिका कांट्रा का सपादन प्रकाशन किया। उनके चित्रो की एकल और सामूहिक प्रदशनिया ज्यूरिख, पथ, टोकियो, दिल्ली, बबई, कलकत्ता, भोपाल आदि जगहो पर आयोजित हुई हैं। वे ग्रुप १८६० के सस्थापका म से रह हैं और साओपाअलो बियेनाल ६६ के निणायक मडल के सदस्य भी रहे हैं।

जवाहरलाल नेहरू फेलोशिप १६६८-७० और एकेडेमी ऑफ फाइन आर्ट्स वारसा की फेलोशिप से स्वामीनाथन को सम्मानित भी किया गया है। इन दिना वे भोपाल मे हैं और रूपकर आधुनिक कला सग्रहालय के निदेशक के रूप मे मध्यप्रदेश की लोक कलाओ को एकत्रित तथा सुरक्षित करने के बड़े कार्य को सपादित कर रहे हैं।

स्वामीनाथन से एक लवी बातचीत करने की बात मैंने कोई दो साल पहले सोची थी। १९७७ की गर्मियो मे मैं उनके साथ पहाडा पर उनके घर (चम रौता, तहसील कोटखाई, शिमला) भी गया था—कुछ दिना के लिए। उनके साथ कुछ समय बिताने की इच्छा के साथ यह बात भी मन मे थी कि 'इटरव्यू' को आगे बढाऊगा। उनसे वहा तमाम बातें होती रही, रोज ही अलग-अलग विषयो पर। एक दिन बाकायदा कलम कागज लेकर भी बैठा। लेकिन लगा कि उन दिनो होने वाली बातचीत को तुरत इटरव्यू जैसी शक्ल म बदल देना अच्छा न होगा। एक दूसरी बात भी थी, उन दिना वहा एक अधड आया था और हमारे पहुचने से पहले बिजली का खभा टूटकर गिर गया था सो बिजली नही थी। लालटेन जलती थी। शाम को हम लोग बरामदे म बैठते, रम पीते। कभी लालटेन टाग देते। कभी वह भी हटा देते। सामने की घाटी, पहाडो को, तारो को अधेरे मे ही देखना बहुत अच्छा लगता। दिन मे भी हम कई बार यही करते बरामदे में बैठ जाते थे, कुछ देर के लिए सेबा के बगीचो मे निकल जाते तरह तरह की चिडियो का आना-जाना देखते खास तौर पर सुबह। दोपहर में बडी चिडिया की छाया जब पहाडो पर तैरती तो ऊपर उडती चिडिया से अधिक उस छाया का पीछा करना मेरे लिए फिर उत्तेजक अनुभव था। स्वामीनाथन् अपनी कला मे प्रकृति के जिन उपकरणो का उपयोग करते हैं—वे सब यहा थे पहाड, पेड, चिडिया, उनकी छायाए, वनस्पतिया, प्रकाश, अनेक रगतें आदि। और इन उपकरणा को उनके साथ—उनकी टिप्पणियो के साथ—देखना एक ऐसा अवसर था जो बातचीत की तरह (या बातचीत के लिए भी) जरूरी था। (यो ध्यान रखें कि उनका एक 'उपयोग' ही वह करते हैं, उन्हे निरे चित्रण की चीज ही नही मानते—प्रतीकों की कला मे 'मुक्ति' की बात उन्होंने यहा (बातचीत म) की ही है। और दिन का मैं अक्सर आसपास घूमने भी निकल जाता—कभी नीचे ही बहने

वाली गिरिगगा की ओर । बातें होती रहती । सब लिखी नही गई । यो भी बातचीत के बीच कोई बात नोट करने के लिए अगर मैं कागज-कलम लेने बढता तब स्वामीनाथन् टोक देते अपने खास लहजे म । खुद को भी यह लगता कि एक सहज चलने वाली बातचीत के बीच कागज-कलम एक व्यव धान पैदा कर देंगे । जो लोग स्वामीनाथन को जानते है, वे यह जानते हैं कि स्वामीनाथन को बातें करने म खास रस आता है । और बातचीत के बीच वह एक सहज बहाव ही पसद करत ह । वैसे उन दिना वहा होने वाली बातचीत भी इसम कही प्रकट-अप्रकट रूप में है । दिल्ली लौट आने के बाद इटरव्यू के सूत्र जोडने की कोशिश मैं करता रहा और जब जब मैंने मागा, स्वामीनाथन् का पूरा सहयाग भी मुझे मिला । लेकिन कभी यह भी होता कि उनसे मिलने जाता तो कुछ और लोग भी आ जाते । बातचीत होती रहती लेकिन सवाल जवाब के रूप में ही नही । थाडा थाडा अतराल देकर कई बैठकें उनक साथ हुईं । लेकिन बातचीत का लिखना टलता रहा । एक बार जब लिखना सभव लग रहा था तो बीच में चतुथ 'त्रैवार्षिकी' आ गई, जिसमे कि स्वामीनाथन भी व्यस्त थे । बहरहाल, पिछले दिनो मैंने स्वामीनाथन से इस इटरव्यू को पूरा करने के लिए फिर कुछ बैठकें तय की और बातचीत को 'सवाल जवाब' के रूप में समेटने की 'अतिम' कोशिश की ।

स्वामीनाथन बातचीत करते हुए हमें अक्सर किसी अनुभव के केंद्र में ले जाते ह—जहा हम उस अनुभव को बहुत हद तक देख भी रहे होते है । कुछ इस तरह कि शब्द पीछे रह जाते ह—अनुभव का अनुभव महत्त्वपूण हो उठता है । इटरव्यू को लिखते वक्त इस अनुभव (या अनुभवो) से फिर शब्दो की ओर यात्रा एक कठिन प्रक्रिया है । स्वामीनाथन का भाषा पर, शब्दो पर भी अपना एक उत्तेजक अधिकार है । लेकिन अक्सर वह शब्द माध्यम का इस्ते माल इस तरह नही करते कि 'वाक्य रचना' महत्त्वपूण हो या बात शब्दा म बध जाए बल्कि इस तरह करते हैं कि वह ध्वनित हो । मैं इन बाता को यहा इसलिए याद कर रहा हू क्योकि म जानता हू कि स्वामीनाथन की बात को ठीक उन्ही के शब्दो और लहजे म न रखने के अपने खतरे हैं । खास तौर पर अगर बातचीत कला को, रगो को, रचना प्रक्रिया आदि को लेकर हो । लेकिन इस बातचीत म उनकी बात बनी रहे इसकी हर सभव कोशिश की है और उनकी किसी प्रसग म कही हुई ऐसी बातें भी इस बातचीत म समेट ली गई है जो जरूरी नही कि उन्हाने किसी सवाल के जवाब म ही कही हो । इतनी लबी बातचीत मे जाहिर है कि सवाल जवाब बिल्कुल ज्या के त्या नही रखे गए । उनका क्रम आगे पीछे भी हो गया है—और प्रश्ना प्रतिप्रश्ना को भी कही कम कर दिया गया है और बातचीत के बीच आए उनकी कला और

जीवन सबधी कुछ जरूरी ब्योरो को उनके परिचय के साथ जोड दिया गया है। जिससे कि परिचय और बातचीत मे दुहराव न हो।

●●

अपने कई वर्षों के रचनात्मक जीवन के बाद आप स्वय कला के बारे मे क्या सोचते हैं ?

कला एक ऐसा आईना है जिसके सामने प्रकृति अपने वास्तविक रूप को कभी नहीं देख सकती। मैं शायद बात को उलटकर कह रहा हू, लेकिन जानबूझकर उलटकर कह रहा हू। मेरी यह धारणा रही है कि प्रकृति सर्वोपरि है और कलाकार भी एक माध्यम है—प्रकृति का ही एक माध्यम है। लेकिन कला प्रकृति का माध्यम होते हुए भी जैसे उसका माध्यम नही है। इसी अर्थ मे मैने कहा कि कला एक ऐसा आईना है जिसके सामने प्रकृति अपने वास्तविक रूप को कभी नही देख सकती। कला प्रकृति के प्रतीका-विंबो को वही प्रकृति से मुक्त करती है। वास्तविक अर्थों मे कोई प्रतीक किसी चीज का प्रतीक नही होता। केवल अनत सभावनाओ का प्रतीक होता है। दरअसल अपने वास्तविक रूप का देख लेना अपने अर्थ को खो देने के बराबर है। इसी तरह किसी चीज या प्रकृति को उसके 'वास्तविक' रूप मे देख लेना या रख देना उसके अर्थ का खो देने के बराबर है। और हम मानेंगे कि जहा ऐसा होता है, वहा कला नही होती। नहीं हो सकती।

तब क्या आप यह मानते हैं कि प्रकृति का माध्यम होते हुए भी कोई कलाकार रचते समय अपने माध्यम भर हो सकने से मुक्ति चाहता है और इस मुक्ति की एक सजग प्रक्रिया की ओर बढता है ? कलाकार होने की प्रक्रिया की ओर ?

मै ठीक ठीक नही कह सकता कि वह दरअसल क्या करता है। मानव मस्तिष्क अत्यत जटिल है। मै अनुभव जरूर करता हू और इस अनुभव कर सकने मे एक बात तो इतनी साफ है कि उसे फिर दुहराने की जरूरत ही नहीं है कि कला यथातथ्य या जस का तस चित्रण नही है। जब हम इतना मान और देख लेते हैं तो इतना स्वीकार करने लगते है कि कला की अपनी एक प्रक्रिया है जरूर, जिसे सभव है कलाकार भी ठीक-ठीक न जान पा रहा हो। इस अर्थ मे वह फिर एक माध्यम ही है, इस बार प्रकृति का नही, कला का माध्यम।

लेकिन क्या इस हद तक 'माध्यम' कि हम उसके माध्यम होने या

हो सकने को चेतना से भी अलग कर दें ?

'हा' और 'नही', दोना । दरअसल हम इस तरह देखें कि कला और सिद्धि म भेद है । कोई सिद्धि शायद माध्यम होने या न होने के भेद को भी मिटा देती हो । लेकिन कला ऐसा नही करती । अपने स्वभाव म ही यह नही करती जो मनुष्य और ईश्वर मे बीच है -वह कला का क्षेत्र है । और मैं यहा एक बात और जोडना चाहता हू कि कला के द्वारा मानव ने चाहे ईश्वर की ही अचना क्या न की हो वास्तव म उसका सबोधन मानव ही रहा है ।

मनुष्य का मनुष्य से एक सवाद ।

सवाद भी कह सकते हैं लेकिन मैं सबोधन ही कहना पसद करूगा क्योकि जो कला को देख रहा है उस तक इस सबोधन से अपने अथ भी प्रकट होंगे । निरा नक और फिर तक का सिलसिला भर नही । और सबोधन की बात करते हुए मैं मौन की भी बात करना चाहूगा । प्रतीक/बिंब या रूपा के पीछे के मौन की । कला मे ही अर्थ का अथ हो सकता है । उसके चाक्षुष रूपा म —उनके 'मौन' मे । वे सबोधित करें, लेकिन इतना न बोलें कि रूप स हमारा ध्यान हट जाए । जब रूप ही रूप प्रमुख हो तो अपने आप नाद मे भी बदल जाता है । साहित्य या कविता के बारे म भी यही बात—एक भिन्न माध्यम के रूप म—दूसरी तरह से सही है । कविता मे अक्षरा का स्वरूप जितना सामने न आए उतना ही अच्छा है—क्योकि जब नाद ही नाद हो तो अपने आप रूप म बदल जाता है । कविता म होना भी यही चाहिए । शब्द के बीच रूप की प्रमुखता के नतीजे अच्छे नही हो सकते । और कला म रूप की अव हेलना करके हम नही चल सकते । कला मे हम रूप से नाद की ओर बढते हैं —कविता म नाद स रूप की ओर । रूप और नाद कही एक भी हैं और इसी अथ मे साहित्य और चित्रकला का एक पुराना रिश्ता भी है लेकिन रिश्ते का यह अथ नही कि दोना के स्वतत्र व्यक्तित्व खो जाए । इन व्यक्तित्वा के अलग होने के कारण ही हम रूप और नाद को और अधिक अच्छी तरह पहचानते हैं एक दूसरे के प्रसग म उनकी भूमिका की गहराई और प्रकट होती है । चाहे तो कह सकते है, रूप की इस एकाग्रता के प्रति कलाकार का सजग होना जरूरी है । इस अथ मे वह निरा माध्यम नही रह जाता ।

भारतीय कला मे आधुनिकता के बारे मे कुछ बनी-बनाई, यहा तक कि आयातित, आरोपित धारणाओ का एक दौर खत्म हो गया लगता है ? आज आप आधुनिकता को किस तरह देखते हैं ?

मैं समझता हू आज स्वय यूरोप मे, जहा आधुनिक आदोलन ने जोर पकडा था,

यह आंदोलन खत्म हो चुका है। मेरा मानना है कि अब आधुनिक कला की बात नही हो सकती, समकालीन कला की ही बात हो सकती है। मैं पूरे मन से कह सकता हू कि यूरोपीय आधुनिक कला आदोलन मे बहुत कुछ ऐसा रहा है, जिसम मुझे सचमुच कुछ दिखाई नही पडता। स्वय घनवाद को लें, यह ऐसी एक वस्तुपरक कला थी कि इसम मानव के प्रति वह सबोधन मुझे सिरे से गायब लगता है, जिसकी बात मैंने पहले भी की। आप कहो कि आप इस चीज का इस तरह भी बनाकर दिखा सकते हो, तो हासिल क्या है। निरे तकनीकी सवाल कभी कला के सवाल नही बन सकते। (या कला मे तकनीक की अपनी जगह ह।) मुझे इस पर भी आपत्ति है कि बहुधा आधुनिकता को अग्रगामी या अवागाद होना भी मान लिया गया। उसम विकास की बात खास दृष्टि और आग्रह से जोड दी गई। अगर ऐसा है तो फिर नष्ट हो गई सभ्यताओ—मसलन मिस्री सभ्यता का—उसकी कलाकृतिया का अथ आज हमारे लिए नही रह जाना चाहिए या कम रह जाना चाहिए। लकिन हम जानते हैं कि एसा है नही। स्वय पिकासो जैसे कलाकारो ने पीछे भी देखा अतीत की कलाकृतियो स वही प्रेरणा भी ग्रहण की। कला मे हम पीछे भी देखते हैं, आगे भी। कभी आगे और पीछे साथ-साथ। दरअसल आधुनिकता का जो एक सवत्र प्रचलित अथ यह किया गया कि पश्चिम की औद्योगिक प्राविधिक तरक्की से सपन्न सभाओ म जो कला हुई वही आधुनिक भी है, वह बहुत भ्रामक था। स्वय पश्चिम भी इस भ्रम का शिकार हुआ। म एक और बात कहना चाहता था जो किसी हद तक कला इतिहास की है पश्चिम स्वय अपने आधुनिक कला आदोलन की शुरुआत चाहे वही से करे, मै कहता हू हम अपने आधुनिक कला आदोलन का मिनियेचर चित्रो म क्या न शुरू हुआ मानें ? आधुनिकता का क्या किन्ही लक्षणो मे ही देखें ? लेकिन आधुनिकता को लेकर जिस तरह के विचार, जिस तरह की धारणाए और बहसे हमारे यहा पनपी, उसमे कई तरह की गडबडिया भी पैदा हुइ। हमारी दष्टि कही धुधली हुई। इससे रचनात्मकता के सवाला को भी चोट पहुची। कला की रचना के सदभ म समय, देश (स्पेस) म बदल जाता है और इस प्रकार कलाकार एक एसे ससार म विचरता है, जहा सब कुछ वतमान मे है। यही आकर ऐतिहासिक दायित्व से जनित कला की तथाकथित तात्कालिक साथकता या प्रयोजन का भ्रम टूट जाता है और मानव जीवन के प्रति मूल दायित्व की बात उजागर होती है। हम देखें तो स्वय पश्चिम म न सही बहुत से कलाकार कम से कम एक कलाकार—पाल क्ले तो था ही, जिसकी कला आधुनिकता के लक्षणा मे ही नही भटकी। उसी की कला म हम यह भी देखते ह कि वहा पीछे और आगे, पूव और पश्चिम के भी सवाल उस तरह आकर

सामने खड़े नही होते।

आपकी युवावस्था के कई वर्ष सक्रिय राजनीति मे बीते, क्या उन वर्षों मे भी आप चित्र बनाते थे? किसी न किसी रूप मे कला आपके साथ रहती थी?

चित्र बनाना, स्केच करना और प्रदर्शनिया देखना शायद ही कभी छूटा हो। सक्रिय राजनीति के दिनो मे भी मैं दिल्ली मे लगी हुई कोई प्रदर्शनी छोडता नही था।

मैंने सुना है, उन दिनों आप पढ़ा भी बहुत करते थे। किताबों से घिरे रहते थे?

हा, पढने की शुरुआत तो शिमला के पुस्तकालय से हुई थी—इसी पुस्तकालय मे मैंने डारविन को, रोमा रोला की सपूर्ण कृतिया को पढा था।

कला-पुस्तकें भी आपके इस पढने मे जरूर रहती होंगी?

हा, जितनी भी मिलती थी। दिल्ली मे ही अधिक पढी, पुस्तकें पढ़ता था केवल पुस्तकालयो से ही नही, जहा जब मिली, दोस्तो से, खरीदकर मेरे पिता के पास भी बहुत सी पुस्तकें थी—ज्यादातर सस्कृत साहित्य, कालिदास के बड़े प्रेमी थे वह।

अब उस तरह किताबों से घिरे नहीं रहते आप?

किताबो से घिरकर तो कभी नही रहता था। हा, राजनैतिक जीवन मे एक समय ऐसी उथल-पुथल हुई थी कि कुछ समय के लिए अपने को किताबो मे डुबा देने मे एक निष्कृति मिली थी। मेरा पढना वैसे बहुत बेतरतीब भी रहा है। और राजनीतिक जीवन छोडने पर मैंने अपनी सभी पुस्तकें रद्दी के भाव बेच दी थी उस समय ऐसा ही करने का मन हुआ था। अब तो आपको मालूम ही है इक्का दुक्का पुस्तको के अलावा, मैं घर पर किताबें ही नही रखता। कई बार इससे लोग यह नतीजा भी निकाल लेते है जैसे मैं कोई पुस्तक विरोधी या साहित्य विरोधी हू। बात बिलकुल ही ऐसी नही है। बात है रख-रखाव की। मैं दरअसल पुस्तको को उतना ही सभालकर रखना चाहता हू, जितना चित्रो को। कई कारणो से यह सभव नही हो पाता, इसीलिए पुस्तकें नही रखता घर म। मेरा बडा मन है कि कोटखाई, शिमला वाले घर मे, एक कमरा हो जो पुस्तको से ही भरा हो। खास तौर पर मेरी प्रिय पुस्तको से। पता नही यह कभी सभव होगा या नही क्योंकि मैं अभी वहा रह ही नही

पा रहा—सिवाय कभी-कभी आने-जाने के।

हिंदी साहित्य भी पढ़ा है आपने काफी।

ज्यादातर पहले का। प्रेमचन्द, प्रसाद, निराला, महादेवी वर्मा, पत, बच्चन। समकालीन साहित्य के बारे म मैं ऐसा दावा नहीं कर सकता। हालांकि आपको मालूम ही है कि कई समकालीन लेखक मेरे दोस्त है। उनकी चीजें जब भी मिली, पढ़ता रहा हूं। एक जमाने म प्रसाद, पत, महादवी आदि की कई चीजें मुझे कठस्थ रहा करती थी।

आप कह रहे थे कि नाटकों और फिल्मों मे आपकी बहुत दिलचस्पी नहीं है।

मुझे शाम को दोस्तो के साथ घर म बैठना अच्छा लगता है अक्सर। फिल्म क बारे म मरा मानना है कि उस माध्यम म एक एसा अस्थायीपन है कि एक कलाकार के नाते वह मुझसे सहन नही होता। चाक्षुप रूपा की जो गहराई वहा मिलती भी है, वह अगले ही क्षण ओझल हो जाती है। स्पेस रहते हुए भी जैस वहा नही रह पाता। यो एक कारण यह भी है कि आम तौर पर आम जिंदगी म तो हम लोगो को एक चीज स दूसरी की ओर भागता हुआ देखते ही हैं मुझे अपने केंद्र म ही रहना पसद है।

क्या उसी सदभ मे, जिसमे आप रूप ही रूप की प्रमुखता की बात करते रहे थे।

हा, बहुत हद तक उस सदभ म भी।

आपके चित्रों का सदभ प्रकृति ही रही है, उसी के उपकरण?

उसके बाहर और कुछ है कहा? मेरा तो मानना है कि विज्ञान की शक्ति भी प्रकृति स ही है। क्या वैज्ञानिक यह दावा करेगा कि वह प्रकृति के बाहर स्थित है?

आज शायद पहले की अपेक्षा एक यह धारा बलवती है कि कलाकार सामाजिक बदलाव के प्रति प्रतिबद्ध हो, उसके विकास की सभावनाए अपने काम मे ढूढें, उन शक्तियों को सहारा दें, जो समाज को बदलना चाहती हैं?

कला क सदभ म ये बातें बहुत मन भरमाने वाली भी मुझे लगती हैं। मैं तो अपने उन दोस्तो से बराबर कहता रहा हूं—जो ऐसा चाहते रहे है—कि अगर

ऐसा करता है तो वही पहुचो जहा वह लडाई लडी जा रही है या सचमुच लडी जा सकती है। अपने समय के सवालो के प्रति मैं कभी अनजान नही रहा। न अनजान रहने की मुद्रा मैंने अपनाई। व्यक्ति और समाजो की स्वतत्रता, लोकतत्र के बचाव आदि म मुझे कम दिलचस्पी नही रही। और मैं कह सकता हू कि अपने ढग से मैंने अपना योगदान भी दिया है। लेकिन अपने काम मे—अपनी कला मे आरोपित शर्तों को स्वीकार नही कर सकता। क्या कला मे एक दूसरी लडाई भी नही है? जहा मुझे यह सघप भी करना है—करना पडता है अक्सर—कि एक रग को दूसरे के मुकाबले मुझे बचाना है। वह वहा आना चाह रहा है और उसकी लडाई (जो मेरी भी लडाई है) मुझे लडनी है। और यह तो एक ही उदाहरण हुआ

> **यो कला की यह लडाई भी कहीं समाज की लडाई भी बन ही जाती है**

हो सकता है पर मैं उसका दावा नही करता। मैं पूरा समाज या देश तो हू नही, पर मुझे इसका अधिकार है या नही कि अपनी कला म मैं अपनी तरह से हू

> **यह तो है ही। मै यह कहना चाह रहा था कि प्राकृतिक भौगोलिक सीमाए जो किसी समाज या देश की भी होती हैं, कुछ अपने खास रग भी कहीं निर्धारित करती हैं और उनके बीच रहने वाला कलाकार कहीं उन्हीं को लेकर अपने सबोधन—जो आपका ही शब्द है—को अधिक आत्मीय बना पाता है**

बिल्कुल, और यह काम वह कई तरह से करता है। कोई चीज बिल्कुल पडी नही मिल जाती। कई बार यह भी होता है कि किसी समाज म कुछ रग, ठेठ या रूढ प्रतीको मे बदल जाते है—वह उन्हे लेकर तो काम करता है लेकिन उन्हे उन प्रतीको से मुक्त करना चाहता है। ठेठ या रूढ प्रतीक प्रकृति के हो या रगो के हो—कला और कलाकार की एक साथकता इन प्रतीको को रूढ अर्थो से मुक्त करने म भी है

> **एक दिन आप किसी से बातचीत मे कह रहे थे कि हमारे यहा आधुनिक कला धारा मे एक झोंके के साथ—पश्चिम से जो चीजें ले आई गईं, कुछ रग भी थे ऐसे जो हमारे नहीं थे हमारे बोध से मेल नहीं खाते थे। मसलन भूरे और धूसर**

हा, ऐसा हुआ और बहुत ज्यादा हुआ। पश्चिम की कला को ही आधुनिक

और प्रासगिक मान लेने के कारण ही जैसे हमने अपने चारा तरफ, अपनी धरोहर की तरफ, देखना छोड दिया या बहुत कुछ अनदेखा कर गए

लगता है आप शुरू से इस बात को लेकर सजग थे। फिर भी यह जानने का मन करता है कि उन दिनो भी जब पश्चिमी आधुनिक कला ने हमारे यहां खास तरह से अपना असर डाला था, आप उससे अछूते कसे रहे ? क्योंकि यूरोप तो आप भी गए थे लेकिन न तो आपकी कला मे वहां के आकारिक लाक्षणिक रूप प्रकट हुए, न रग

मैं समझता हू कि यह बात जटिल न होकर सरल ही है। कम स कम मेरे लिए सरल रही। किसी और की भाषा म मैं अपनी अभिव्यक्ति कैसे कर लूगा, बात इतनी ही है। मैं शुरू म पालड गया था। वहा प्रो० सीविस के साथ काम करने का अवसर आया, वह उत्तर प्रभाववादी (पोस्ट इम्प्रेशनिस्ट) चित्रकार थे, मतीस के साथ रहे भी थे वह। उनस मरी बहुत बातें होती थी। उन्हे यह कुछ अजीब लगता था कि मैं उस तरह काम नही करना चाहता, जिस तरह वह सोचते थे कि ठीक रहेगा। वह शैली के महत्त्व पर जोर देते थे, और यूरोप म आधुनिक कला की शैली जिस तरह विकसित हुई उस पर। दोना का ही एक कलाकार के नाते मेरे लिए कोई खास मतलब नही था। शैली का विकास, कला इतिहास का सवाल हो सकता है—कलाकार का नही। हम यह न भूलें कि रूस और स्पेन से जो कलाकार पेरिस गए थे इस शती के आरभिक दशका म, व अपना सब-कुछ पीछे नही छोड आए थे। न ऐसा है कि वह सब कुछ उन्होने आग चलकर छोड दिया। बात समाजा के सास्कृतिक तेवर (कल्चरल एटीट्यूट) की भी है। एक समय आया जब पश्चिमी समाजा न यह तेवर अपना लिया कि जो कुछ उनके यहा उपजा है, वही सारी दुनिया के लिए श्रेष्ठ है। इस तेवर मे वही यह भी भूल गए कि स्वय उनके यहा जो उपजा, वह ठेठ अर्थो मे उनका नही था। कही और लाकर रोपा भी गया था। सास्कृतिक तेवर केवल शैली की ही नही, कई बा तो 'अपनी' रचना सामग्री तक की अहमियत घोषित करते दिखाई पडते हैं

एक बार आप कह रहे थे कि आज सभी जीवा मे मानव जाति ही सबसे थकी हुई जाति है

यह बात मैंने इसी सदभ म कही थी कि आदमी ने प्रकृति स कई तरह स लडाई छेड दी। विस्मय के भाव को जाने दिया। जानकारी के बोझ का ही वह ढोने लगा। म ता विस्मय का आज भी बडी चीज मानता हू। कौन दावे

से कह सकता है कि एक दिन प्रकृति मे फूल की दो पखुडिया ही अचानक अलग होकर तितली के रूप मे उडने न लगी होगी। और यह सचमुच कोई इतनी अनहोनी बात भी नही। इग्लड की एक औद्योगिक बस्ती की एक घटना इस सिलसिले म याद हो आती है पेडा की छाल के रग की ही पतिगा (मॉथ) की एक जाति वहा थी। जब कारखानो के धुए से पेडो के तने काले पडने लगे तो इन पतिगो का रग भी काला पड गया—धुए से नही, किसी कालिख स नही, अपने आप, जिससे कि तनो मे व पहले की ही तरह खपा सकें—अपने को उन्ही के रग मे छुपा सकें। प्रकृति मे इस तरह की न जाने कितनी चीजें हुई होगी। मानव इतिहास मे एक समय ऐसा आया जब परिवतन और विकास की धारणा (नोशन) पर ही सारा जोर हो गया। प्रकृति मे विकास की गुजाइश कहा है, हा रूप परिवतन की गुजाइश है। प्रकृति अपने का कभी दोहराती नही—उसमे ता इतना रूप परिवतन है। मुझे रूप भेद ही बडी और सुदर चीज लगती है। प्रकृति म भी और कला म भी।

> **आप आधुनिकता और समकालीनता के बीच आज एक मौलिक भेद मानते हैं, आपने कहा कि आधुनिकता की बात नहीं हो सकती समकालीनता की हो हो सकती है। समकालीन तो हर रचना होगी, लेकिन समकालीन होने के अथ क्या होगे ? रचना मे अथ का सवाल तो फिर भी बचा हुआ है।**

हा, अथ का सवाल बचा हुआ है। कला म अथ—यह एक लबी बहस का विषय रहा है। कई बार मुझे लगता है जब कला मे अथ की बात होती रही है तो एक साहित्यिक, ऐतिहासिक अथ की ही बात होती रही है। वग विभक्त समाज मे, वग सघर्षों से भी कही जनित हुई रचना म, अथ की बात। वस्तुपरक सत्य (आब्जेक्टिव ट्रूथ) की बात हम मानेंगे कि कला का पहला सवाल नही रहा हागा। वह भी बाद म पैदा हुआ। और यूरोप म रेनेसा के बाद स तो चित्रकला म बहुतेरे सवाल आधारिक तत्वा (फामल इलीमटस) के सवाल बना दिये गय। इस बात पर भी काफी जोर दिया गया कि हम पहले किसी चीज का कैसा बनाते थे, बाद म कैसा बनाने लग। यानी अभिव्यक्ति आकारिक तत्वा के कई तरह स अधीन रही। कलाकारा न इतिहास की—शैलिया के इतिहास की चुनौती को ही बार-बार अपन लिए एक बडी चुनौती माना। पश्चिम के कई आधुनिक कला आदोलनों म भी हम इसी बात को लक्ष्य करेंगे—आदोलना के पीछे के प्रमुख कारण कुछ ऐस ही थे। यह नहीं कि उनमे अभिव्यक्ति नही हुई—कई बार अच्छी अभिव्यक्ति हुई। लेकिन उनके ऊपर इतिहास का बोझ खास तरह से बना रहा, यह हम पाएग। लेकिन आज यह

सभावना हम फिर ढूढनी होगी कि ये सब जो बधन थ—'फ्रेमेज'— उन्हे उता
फेंका जाए। और ये उतार फेंके भी जा रहे है—कई जगह।

एक उत्तर आधुनिकतावादी दौर मे ?
आप चाहो तो उसे जा भी कह लो। मैने तो समकालीन शब्द को ही चुना
क्योकि उत्तर आधुनिकतावाद कहन म हम फिर उसी तरह शैलियो या आदो
रचना की चुनौती क बरक्स खडे हो जाएगे। वह मेरी बहस का विषय नही।
म तो आज फिर कलाकार की दृष्टि या विजन को रचने की उसकी पूर्ण स्व
तत्रता को, वापस लौटा लाने की बात कर रहा था। बल्कि वापस लौटा लाने
की भी नही कनवास के सामने इस तरह खडे होने की कि न उसके पीछे कुछ
है, न आगे, जो कुछ है अभी और यही है—इस तरह। पाल क्ले ने इसी बात
की तो पहचान की थी कि मैं जिसे चाहूगा जब चाहूगा, अपने काम म रखूगा
—जिन तत्वो का इस्तेमाल करना चाहूगा चित्र भाषा म करूगा। बात इसी
आभास की है।

लेकिन हम फिर अर्थ की बात पर लौट आते है, ऐसा होते हुए भी
रचना म कला या अर्थ का सवाल तो बचा रहेगा उससे तो निपटना
ही होगा।

अर्थ की भी बात बची रहेगी—सार्थकता की भी। जब मैं सबको इनकार कर
हू बहुत सारी चीजो को परे धकेलता हू—उस मरे हुए, सडे हुए को जो मु
घेरे और दबाए है उसस मुक्त होता हू, होना चाहता हू तो क्या इससे अप
आप एक सार्थकता नही जन्म लेती ? आदमी की हसी और उसका चीत्कार
तो ब्रह्माड म फैलने की चीज रही है। वर्ग विभक्त समाज म आदमी के क्रदन
को आदमी तक नही सुन पाता। ऐतिहासिकता के बोझ ने—तरह-तरह की
ऐतिहासिकता के बोझ ने, आदमी की हसी और उसके चीत्कार को क्या एक
बीमार आदमी की हसी और बीमार आदमी क चीत्कार म नही बदल दिया
है ? कला म हम फिर उसकी वास्तविक हसी और वास्तविक चीत्कार को
पाना चाहते हैं तो क्या इसस फिर एक नया अर्थ पैदा नही होता ? सम
कालीनता म फिर उसी को पाने की बात भी मैं करना चाहता हू।

आज, अभी तक हमारे यहा जो कला हो रही है उसम दो तिहाई तो
आधुनिकता के इतिहास क बोझ क नीचे दबी हुई कला है। हम इस बोझ को
पहचानें तो क्या मूल रचनात्मक उत्सा की ओर नही जा रहे होगे ? रचना म
इस बात का बोध जरूर ही किसी अर्थ को प्रकट करेगा। एक उदाहरण देकर
कहू कि कल्पवृक्ष और निरा वृक्ष बनाने म बहुत बडा अतर है। निरे वृक्ष की
ओर देखने का क्या अपना अर्थ नही है ? कल्पवृक्ष तो प्रतीक का पुनसृजन ही

होगा, सृजन तो वृक्ष के माध्यम म ही सभव होगा।

जब आप कहते हैं कि अभी भी दो तिहाई समकालीन भारतीय कला आधुनिकता के बोझ तले दबी है, तो इस बोझ में आप किन किन चीजों को शामिल करते हैं ?

मैं इस बोझ म अग्रगामी होने या हो सकने के तहत काम करने की प्रवृत्ति को शामिल करता हू। अमूर्तन की खास धारणाओ और ऑप पॉप जैसे सदर्भों म बार-बार कला को देखने की, और उन चीजा को जो अतत पश्चिमी अनुभव के घेरे म ही आती हैं और जब लगता है कि बहुतेरा काम रचनाकार के अपने अनुभव स नही उपजा—और वह अक्सर एक रूढिपन को ही समर्पित है। और कुछ काम नयी रूढिया को समर्पित है—'निओ रिअलिज्म' जैसी रूढियो को। मैं इस बोझ मे उस स्थिति को भी शामिल करता हू, जहा भुला दिया जाता है हर व्यक्ति, हर रचनाकार की एक अपनी एक समकालीनता होती है और वह उस बात को पहचान कर ही रचना कर सकता है।

गीता कपूर ने अपनी पुस्तक 'कटेंपरेरी इडियन आर्टिस्ट्स' मे आप पर लिखे गए लेख मे कहा है कि आपका पश्चिम पर किया गया प्रहार 'इकहरा' है। या डाइमेशनल हास्टिलटी की बात उन्होंने इस सदभ में की है।

यह तो नासमझी है। मेरा विरोध पाश्चात्य जगत के मानव से तो नही है। एक पतनोमुख सभ्यता के लक्षणो से है। पाश्चात्य जगत के प्रति आज यह दृष्टिकोण इसलिए अपनाना पडता है क्योकि मानव अस्तित्व को सबसे बडा खतरा वहीं से उत्पन्न हो रहा है। और मेरा यह विरोध भारतीय होने के नाते ही नही है, पूर्व का होने के नाते ही नही है, मेरे जैस लोग पाश्चात्य जगत मे भी बस्ते हैं जो स्वय पतनोमुख लक्षणा का विरोध कर रहे हैं। दरअसल गीताजी ने विश्लेषण की जो पद्धति अपनाई है वह 'आधुनिक' पद्धति है, समसामयिक नही। कमोबेश वह माक्सवादी पद्धति है। वह कुछ विचारा को सर्वोपरि मान रही हैं—और उन्हे कला पर लागू कर रही हैं। जैसे 'तीसरी दुनिया' के कलाकार जैसी जो कोटिया उन्होने बनाई हैं, वे मुझे बहुत असगत लगती हैं।

लेकिन वहां की सभ्यता या समाज के साथ आप वहां की कला पर भी तीखे प्रहार करते रहे हैं ?

जिस तरह मैं वहा के मानव का विरोध नही कर रहा उसी तरह सब कलाकारा का भी नही। मैं ता कला के नाम पर अपनाए गए तेवरो और प्रवृत्तियो

का विरोध करता रहा हू । चेहराहीन (फेसलैस) होती चली गई कला का और वस्तुपरक प्रवृत्तियो का विरोध मिनिमल जैसे आदालना का । मैं समझता हू कि वहा की स्थापित की गई चीजो का, तथाकथित कला मूल्यो का विरोध मैं रचनात्मक स्तर पर ही करता रहा हू । मैं कहता हू कि पश्चिम के पास तो अब गुठली भी नही रही । अमेरिकी कलाकार जास्पर जान्स ने डिब्बा-बद चीजो के डिब्बा को ज्यो का त्या बना दिया या अमरीकी झडे को दस तरह म बना दिया तो उनके योगदान को भी बहुत अच्छा मान लिया गया । कला को आधुनिक समय मे वहा समूहीकृत किया गया । मेरा मानना है कि जो समूहीकरण व्यक्ति के लिए घातक है, वही समूहीकरण स्वय समूह के लिए भी घातक है—यह समझना ही चाहिए । मैं कला के नाम पर किए जाने वाले घातक समूहीकरण या वर्गीकरण को स्वीकार नही कर सकता । सामती काल म भी व्यक्ति व्यक्ति ही था । पूजीवादी समाजो म व्यक्ति को भी व्यक्ति नही रहने दिया गया, रचनात्मकता की जगह तेवर प्रतिष्ठित किए गए । मैं तेवरो को क्या स्वीकार करू । मेरा तो मानना है कि एक दिन स्वय पश्चिमी जगत के कलाकार ही इस स्थिति के विरोध म उठ खडे होगे और निरी वस्तुपरकता को उखाड फेंकेंगे । ऐसी कोशिशें शुरू भी हो गई है । हालाकि अभी व भी लक्षणा म ही हैं—ममलन विजनरीज का काम ।

एक समय था जब तथाकथित तीसरी दुनिया के देशों मे पश्चिमी ढाचो के आधार पर यह बात कही जाती थी कि कलाए सामाजिक बदलाव के प्रति प्रतिबद्ध हों—खासकर इन देशो मे माक्सवादी आलोचको और माक्सवादी राजनीतिज्ञो द्वारा और उनके इस आग्रह के बारे मे यह सोचा जाता था कि इन देशों की आधारभूत और मूल समस्याओ से कटकर एक आयातित माक्सवादी तक का आरोपण कर रहे हैं जो किताबी अधिक है । लेकिन आज इन देशों मे कई ऐसे देशी विचार भी पनप रहे हैं जो कलाओ से यही आग्रह कर रहे हैं—यही अपेक्षा करते हैं ।

मैं समाज के लिए सब कुछ करने को तैयार रहूगा बशर्ते कि वह मुझसे उसे न छीने जो पहले मेरी है—और जो मुझे उनस ही मिली है । मैं समाज के पेट म नही अपनी मा के पेट से जन्मा हू । मुझसे समाज ने तो यह कहा नही था कि तुम चित्र बनाओ यह काम तुम्हारे जिम्मे किया जा रहा है । यानी पहले तो चित्र बनाना मेरी ही जरूरत हुई न ? वैस भी मेरी यह मान्यता है कि कला म क्राति और सामाजिक या राजनैतिक क्रातिया समातर ही चला करती है—समातर ही चल सकती हैं । कलाओ को किसी एक ही दिशा म

हाका नही जा सकता। वैसी कोशिशें न तो क्राति के लिए अच्छी होती हैं, न कलाओ के लिए। सोवियत क्राति का उदाहरण लें, उस क्राति की सबसे बडी जो भूल हुई वह यही थी कि कलाए राजनैतिक आग्रहो के अधीन ही चलें। क्राति के पहले, और ठीक क्राति के पहले तक, हम जानते हैं कि बहुतेरे कवि और कलाकार ऐसे थे जो अपने ढग से वास्तव म क्रातिकारी काम कर रहे थे। कलाकारो की लें तो कादिस्की, मालेविच, गावो, शागाल और भी कई रूसी कलाकार एक अदभुत कला सृजन म रत थे। क्या उनकी कला को आज कोई राजनैतिक विचारधारा वास्तव म छोटा सिद्ध कर सकती है? लेकिन उस समय राजनतिक शक्तियो ने उसे नही अमाय ठहरा दिया—उस धारा को अवरुद्ध करना चाहा? इसका हासिल क्या था? क्या क्राति के बाद पैदा होने वाले मनुष्य की बात हम भुला दें? क्या उसे एक तथाकथित लडाकू कला की ही जरूरत है? और क्या हम किसी भी समय किसी कला धम को स्थगित कर देने की बात करेंगे? क्या हम यह नही जानते कि युद्ध की खदको मे भी प्रेम-कविताए लिखी गई? क्या उस समय केवल युद्ध के गीत ही लिखे जाने चाहिए थे?

जहा तक पोस्टरो का सवाल है इस सामाजिक राजनैतिक रूप से उत्तेजित करने वाले गीतो का सवाल है तो वे तो बराबर बनाए और लिखे जाते रहे हैं। लेकिन क्या वे कला का विकल्प भी हैं? रचना का विकल्प भी हैं? दरअसल इस तरह के सवाल स्वय मनुष्य को खडित करके देखने से पैदा होते हैं और मनुष्य को खडित करके देखी गई क्राति कभी सफल नही हो सकती। बल्कि क्राति ही क्या, ये जो तीसरी दुनिया आदि की भी बातें हैं, कला के सदभ में, मनुष्य के सदभ मे जैसा कि मैंने पहले कहा मुझे बेवजह उलझाने वाली लगती हैं। मैं अपने देश के किसी गाव के बच्चे को कभी इस तरह नही देख सकता कि अरे, यह तीसरी दुनिया का बच्चा है, यह तीसरी दुनिया का पेड है। जो लोग कला की विवेचना इस आधार पर करना चाहते हैं उनसे मुझे एक मानसिक साम्राज्यवाद की ही गध आती है। ऐसे मे कला को किसी भी चीज के अधीन करने का जो सवाल है, विचार है, वह चाहे बाहर से आए या स्वय मेरे यहा से—मैं उस स्वीकार नही कर पाता।

दूसरी ओर ऐसी चीजें हो सकती हैं कला जिनके अधीन नही होती लेकिन जिनसे उसका सबध हो सकता है। होता ही है। मसलन मैं मानता हू कि मैं हिंदू हू, यहा हिंदू से मेरा मतलब जाति या मठ से नही है बल्कि दशन और विचार की एक धरोहर से है—जिसको आज भी मैं जीवत मानता हू लेकिन हमारे यहा अग्रेजियत के रग मे रगा जो एक वग है वह इस बात पर तो तरह तरह की टीका टिप्पणी करेगा लेकिन मुझे किसी दूसरी विचारधारा के अधीन

'अधीन' हो जाने के लिए वसीयत देने में जरा नहीं हिचकिचाएगा। तो देखिए यह अपने मे कितना बडा और अजीब विरोधाभास है।

आपकी कला मे पिछले कई वर्षों से कुछ ही रूपाकार बार-बार प्रकट होते रहे हैं—पहाड, चिडिया, सूरज, पेड आदि। कई लोग इसे आपकी कला में एक दुहराव के रूप में देखते हैं और रूपाकारों की एक सीमित दुनिया की भी बात करते हैं।

मुझे यह स्वीकारने म जरा भी हिचक नही कि मेरे रूपाकार सीमित हैं। लेकिन मैं इसके साथ यह भी कहना चाहता हू कि सीमित होने का अक्सर जो अर्थ लगाया जाता है वह सही नही है। यह कुछ वैसा ही है कि कोई मोर नाम की एक चीज है यह तो जाने पर मोर को देखे नही। क्या मोर को एक बार देखकर हम उस बराबर के लिए पूरा देख लेते हैं ? शहरी लोगो को यह तो पता रहता है कि रोज सूरज उगता है, पर वह सूरज को देखते नही ? क्या उसका रोज उगना एक ही तरह का होता है ?

मोदिग्लिआनी स्त्री आकृतिया ही बनाते रहे ? क्या उनका हर चित्र एक ही चित्र है ? मोरादी आजीवन बोतलें ही बनाते रहे। क्या बोतला की जगह केतली भी बना देने मे उनकी कला अधिक सार्थक हो जाती ? कोई कहे राम-कुमार अपने अमूर्त चित्रो म अपने को दोहरा रहे हैं तो क्या यह सही बात होगी ? उनका हर चित्र, किस तरह त दूसरे से अलग है यह हम उस सचमुच देखकर ही जान सकते हैं। यहा तक कि आकृतिमूलक काम करने वाले कलाकारो की मूल बात को भी देखना होगा। हुसेन ने बैलगाडी भी बनाई है। मान लीजिए वे ऊटगाडी भी बना दें, तो फर्क बैलगाडी या ऊटगाडी के बीच का तो नही होगा बल्कि उन दो चित्रो का होगा। इस सिलसिले म और भी कई बातें हैं। देखिये मेरे चित्रो का एक सबध लोग मिनियेचर चित्रो से भी जोडते है। म स्वय भी जोडता हू। लेकिन किस तरह का है यह सबध ? मैं मिनियेचर चित्रो के आकारिक तत्वो फामल एलिमटस को तो अपने चित्रो मे नही रख रहा। उनकी सी लयात्मकता भी मेरा लक्ष्य नही। मुझे तो मिनियेचर चित्रो का जो एक कुछ वातावरण (Aura) है वही प्रभावित करता रहा है। कई बार और भी कितनी तरह के भ्रम पैदा होते है। अब अगर मैंने कहा कि पाल क्ले का काम मुझे पसद है, तो इसका यह अथ तो नही कि मैं उनकी कला के आकारिक तत्त्वो का इस्तेमाल करता हू। क्ले के काम म तो रेखा या रैखिक रूप महत्त्वपूर्ण रहे। मेरे यहा तो रेखा की वैसी कोई उपस्थिति या भूमिका ही नही। गीता कपूर ने भी अपनी पुस्तक म मेरे काम को क्ले के काम स जोडा। अब मैं पिछले इतने वर्षों से जो काम करता रहा हू उसका सबध किसी भी

रूप में कले के काम से कहा जुड़ा है ?

आप अपने पूववर्तियो के बारे में कुछ कहना चाहेंगे ?

जरूर। प्रोग्रेसिव आर्टिस्ट ग्रुप के बारे मे। सूजा, रजा और राजकुमार (जो इस ग्रुप मे नही थे) के बारे म। उस समय एक यह चेतना जरूर पैदा हुई थी कि अपनी बात अपनी तरह से करने की जरूरत है। वहां से अपनी ही एक शुरुआत होती है। पश्चिम के बारे म, अपनी परपरा के बारे म कई तरह के सवाल शुरू होते हैं। उस समय की बेचैनी से कई उत्तरित और अनुत्तरित सवालो से निश्चय ही एक नयी उथल-पुथल शुरू हुई जो परवर्तिया तक भी पहुची।

आप 'ग्रुप १८९०' के सस्थापक सदस्यों में रहे, १९६३ में हुई उस की प्रदर्शनी के बाद—आज पन्द्रह-सोलह वर्षों बाद—आप उसे किस रूप में याद करते हैं ?

मैं उसकी मूल भावना को ही याद करता हू। वे दिन भी याद आते हैं जब अबादास, हिम्मतशाह, गुलाम शेख आदि हम सब पहली बार भावनगर में इकट्ठा हुए थे—उस ग्रुप की शुरुआत के लिए। मूल भावना अपनी बात पाने की थी। उन दिनो की बहसो की सार्थकता मैं आज भी देखता हू। तब हम दो किस्म का भार महसूस करते थे—परपरा का और आधुनिक कला आदो लनो का। दोना ही प्रिय नही लगते थे एक धरातल बनाने की चेष्टा थी। उसकी कोशिश कुछ कलाकारा म अभी भी जारी है। एक छटपटाहट थी कि कैसे उस सब भार को परे धकेलकर रचना म सीधे पैठा जाए। हम सब शैली और रूप के हिसाब से एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न काम करने वाले थे लेकिन उस छटपटाहट मे साझीदार थे। वह तो आज भी सार्थक है।

आपको अपने जीवन की कौन-सी घटनाए महत्त्वपूर्ण लगती हैं ?

कितनी ही घटनाए महत्त्व की लगती है।

फिर भी।

जैसे भवानी से मिलना।

इतिहास का तीव्र बोध

विवान सुंदरम से हुई प्रभु की बातचीत

विवान सुंदरम इन दिनो गढ़ी (दिल्ली) म रहते है। हाल मे चंद सालो के दरम्यान चित्रकला म नयी पीठिका पर मानव आकारो के चित्रण के दुबारा आविर्भाव और अथमय करने के लिए जिन लोगो ने एक स्वस्थ आदोलन खड़ा किया है, विवान उनम पहले है। विवान की कलात्मक अभिव्यक्ति तटस्थ विवेचनात्मक भागीदारी से वचारिक प्रतिबद्धता के गहरे जुड़ाव के लिए भी विशेष रूप स जानी जाती रही है। विवान ने एम० एस० यूनिवर्सिटी बड़ौदा में कला-अध्ययन किया। उनकी अब तक सात एकल प्रदशनियां दिल्ली, बबई, कलकत्ता और लदन म आयाजित हो चुकी है। उन्होने विश्वविख्यात कवि पाब्लो नेरूदा की चर्चित कविता 'माच्चू पिच्चू के शिखर पर चित्रकृतियो की सीरीज भी तैयार की है। इसके अलावा भी अनेक एकल और सामूहिक प्रदशनियो मे वे शिरकत कर चुके हैं। आपने *अमृता शेरगिल प्रदर्शनी, तीन ग्राफिक वर्कशाप्स,* छह कलाकार शिविर आदि का आयोजन भी किया है।

●

हर्ष प्रभु युवा कलालोचक। इन दिनो पूना म। 'पूर्वग्रह', 'व्यक्त' और अन्य महत्त्व की पत्रिकाओ मे समय समय पर लेखन।

पहली बार तुम्हे कब लगा कि तुम चित्रकार बनना चाहते हो ?

मेरे ख्याल से शुरुआत मे तो ऐसी कोई खास बात नही थी। स्कूल की पढाई खत्म होने वाली थी और मैंन पेंटिंग करना शुरू कर दिया था। जब स्कूल खत्म हुआ तो मैंने वडौदा की फाइन आर्ट्स फैकल्टी मे जाने का फैसला किया और फिर यह सिलसिला चलता रहा।

सन ६६ मे तुम्हे लदन के स्लेड स्कूल मे पढने के लिए छात्रवृत्ति मिली थी, और वहां तुमने किटाज के निर्देशन मे काम किया। वह दौर किस तरह का था। पाप विचारो और कल्पनाओं ने तुम्हारे काम पर कसा असर डाला ?

किटाज के निर्देशन म मैंने दरअसल कोई 'कोस' वगैरह नहीं किया। कला-प्रशिक्षण को लेकर स्लेड स्कूल का बहुत उदार दृष्टिकोण था आप अपना काम करते रहिए, साथ ही जिस कलाकार म आपकी दिलचस्पी है उससे भी मिलते रहिए। दुर्भाग्य स किटाज स्लेड स्कूल से मरे वहा रहने के पहले साल तक ही सबद्ध रहे और उस पहले साल के दौरान मुझे वहां ठीक से जमने म ही इतना वक्त लगा कि मैं सिर्फ दो ही चित्र बना सका। लेकिन किटाज से मिलना वाकई अदभुत था—इस मानी म कि शायद मं समझता हू आज पेंटिंग करने वाला म वह सबस ज्यादा दिलचस्प चित्रकार है, बल्कि कहीं के भी कलाकारा म ज्यादा दिलचस्प।

'पाप' परपरा म ?

दरअसल वह कट्टर मानी म पाप कलाकार नही है। और पाप कलाकार भी अपने आपको किसी एकमात्र विचारधारा मे जुडा नही मानते। किटाज उन चित्रकारा म स हैं जो बहुत जटिल स्तरा पर काम करते हैं और उनम स एक वह भी है कि वह लोकप्रिय साधना का इस्तेमाल करता है। लेकिन साथ ही उसम बहुत म साहित्यिक तत्त्व भी हैं। मैं यह नही कह रहा हू कि उसकी कला साहित्यिक है, बल्कि यह कि उस साहित्य स बहुत लगाव है और उसके बहुत म चित्र कई समकालीन लखका स बहुत कुछ लेते हुए जान पडते हैं। लेकिन बुनियादी तत्त्व है इतिहास। ऐतिहासिक' का उसके द्वारा प्रयोग।

उसम मिलकर मुझे यह भी समझ आया कि चित्रकला एक बडी मशक्कत का काम है। किटाज यूरोप के चित्रकारा क उस स्कूल' का प्रतिनिधित्व करता है जिसम चित्रकारिता बुद्धि' (इटेलैक्ट) और शिल्प दोना स बडी

अपेक्षाए करती है। इस तरह स उसने मुझे हर बात पर सवालात उठाने के लिए विवश किया मैं किस ढग के किसी एक रग का इस्तेमाल करता हू, कोई एक खास आकार वैसा ही क्या है जसा कि वह है। शुरू-शुरू म मेरे चित्र बडे अराजक थ—जानबूझकर मैंने उन्हें भद्दा और भाडा बनाने की कोशिश की थी, इनैमल पेंट्स का इस्तेमाल उनम किया था, बनारस की उन गलिया, जहा मैं रहा था, वहा की कल्पनाआ स काम लिया था। उस समय, मैं जो कुछ भी कर रहा था उस मन बिल्कुल छोड देने का फैसला किया उस भूल कर एक ज्यादा आत्म-सजग और अनुशासित रवैया अपनाने का।

तुम्हारी प्रियदर्शिनी 'डिस्क्रीट चार्म ऑव् द बूर्ज्वाजी' (मध्यवग का चतुर इद्रजाल) 'पाप' को लेकर तुम्हारी आसक्ति की तरफ इशारा करती है मसलन, बाथ टब्स, पलश की कुर्सिया, होटलो के भीतरी हिस्से जसी रोजमर्रा इस्तेमाल की चीजो से सरोकार के जरिये तुम्हारा वह लगाव दिखाई देता है।

दरअसल वह चीज मुझे जरूर घेरती है, जिस चीज का जिक्र आनल्ड हाउजर न नीची और ऊची कला के बीच सबध के नाम स किया है। सस्कृतिया व इतिहास म यह बात बराबर चली आई ह। मैं खुद कुछ चाक्षुष तत्त्वा (जैसे कि सडको पर लगी हुई प्रतिमाए जिनका बनाना अब लोकप्रिय कला के रूप म पनपने लगा ह) को लेकर एक खास ढग स उन्हे चित्रकला के इतिहास की बगल म रखकर देखना चाहूगा। बुनियादी तौर पर मेरी दृष्टि सार सग्रही है। मुझे लगता है कि आधुनिक कला बस भी एक बहुत ज्यादा आत्म-सजग गतिविधि है, और इसलिए अगर कोई हिंदुस्तानी कलाकार अपनी पहचान बनाना चाहता ह एक व्यक्ति के रूप मे और अपनी सास्कृतिक शिनाख्त के रूप मे भी, तो उसे विभिन्न मुहावरा का अपनाना होगा। इनम लोकप्रियता भी एक मुहावरा है। मेरे अपने कलाक्रम म यह लोकप्रिय या पॉप' तत्त्व हमेशा मौजूद रहा है, हालाकि ज्यादातर बिल्कुल हाशिये पर।

क्या तुम इस बात से सहमत हो कि लोकप्रिय साधनों से इस सपर्क के बिना बीसवीं सदी की कुछ प्रमुख कलाकृतिया शायद अकल्पनीय रहतीं।

हा, बल्कि समकालीन पॉप के अतराष्ट्रीय प्रभाव की ही बात लो। जसे क्यूबा को लो। यद्यपि क्यूबा उत्तरी अमरीका के पूजीवाद के विरुद्ध है, लेकिन वहा के लोगा ने अपने पोस्टरा और फिल्मा म पॉप आट से बहुत कुछ लिया है।

'पॉप' को समाजवादी यथार्थवाद के विपरीत 'पूजीवादी यथार्थवाद' कहा जाता रहा है। इसके बारे मे तुम्हारी क्या राय है?

पॉप वह नही है। पाप निश्चित रूप स सडको तक पहुचा है और एक बहुत जीवत कलाशैली है। इस सिलसिले में एक नये यथार्थवाद की भी बात की जा सकती है। 'फोटो-यथार्थवाद' की, जो पॉपकला के नतीजे म उभरा है। उसकी तुलना समाजवादी यथार्थवाद से कैसे करेंगे? अगर यथार्थवाद को हम सामाजिक यथार्थ का एक आलोचनात्मक प्रतिनिधित्व समझते हैं तो यह इतनी आसान बात नही है। पॉप कला की श्रेष्ठ कृतियो म निश्चय ही प्रखर सामाजिक टिप्पणिया मिलती हैं। लेकिन जिस समाज मे कला पैदा होती है, उस बूर्ज्वा समाज की वजह से, जिसमे विशिष्ट वग के पास हर चीज को सोख लेने की क्षमता होती है, कलाकम और कला-वस्तुए अधी श्रद्धा की चीज बनकर रह गई हैं। कलाकार जबकि स्वय ही कला-वस्तुओ के इस देवत्व पर ऊपर टिप्पणी करता रहा है (जैस एड्डी वारहोल द्वारा कपवेल सूप के डिब्बा पर की गई टिप्पणी), इस प्रक्रिया म उसके अपने उत्पादन की वास्तविक शक्ति कम होती जाती है और वह अपने म एक अध श्रद्धा की चीज बन जाती है। ऐसी स्थिति के चलते ऐसे अनेक लोगो म कोई पर्याप्त आलोचनात्मक अतर दिखाई नही देता। पॉप कला फिर एक ऐसा उपभोक्ता समाज बन जाती है जो अपने को ही अपनी कला का विषय बना लेती है और अक्सर ऐसा किन्ही आलोचनात्मक आग्रहो के बिना होता है।

लेकिन ऐसे भी चित्रकार है—जैसे ओल्डेनबग, जिम डाइन और लिंडनर, जिनकी निरीक्षण-शक्ति बहुत तेज है। और यहा किटाज का भी नाम लेना चाहिए। उसके काम मे ऐसे तत्त्व हैं जो पॉप कल्पनाधारा से निकलते हैं, लेकिन उन तत्त्वो के सदम बहुत व्यापक हैं हालाकि वह कई बहुत सक्रिय वामपथी नही है, लेकिन उसके दृष्टिकोण का एक वचारिक, बल्कि शायद एक माक्सवादी परिप्रेक्ष्य है। उसने 'रोजा लक्जमबग' की मृत्यु जैसे कोई प्रसगा को लेकर कम्युनिस्ट इतिहास को अपनी कृतियो की विषयवस्तु बनाया है।

तुम्हारी अपनी कृतियो मे हालाकि पॉप आट का इस्तेमाल है, पर उनमे एक तरह की चाक्षुष दूरी पदा होती जान पडती है कनवास पर तुम्हारे काम करने के ढग से और कुछ खास रगो के इस्तेमाल से। तुम्हारी 'प्लश की कुर्सियां' और 'होटल के भीतर' लुभायने बिल्कुल नहीं हैं। उनमे एक ऐसा चाक्षुष अतराल है जिसका अतिम प्रभाव विषय से एक वचारिक भ्रम पदा करना होता है।

दरअसल मेरी कोशिश एक ऐसी वस्तु को, जो कि विशिष्ट वर्ग का एक प्रतीक है, जस का तस दिखाने की रही है लेकिन वह बात उस संदर्भ के माध्यम से जिसमें मैं उसे देखता हूं, पूरी होती है। यानी अगर वह किसी होटल या बेडरूम की एक बंद दुनिया में है तो वहां भी उसका बाहरी दुनिया के साथ एक विरोधाभास है। उन सब कृतियों में मेरा वह नजरिया रहा है। वस्तु को उसके अपने ही वातावरण में इतनी सही तरह से देखा जाए कि देखने वाले को वह निस्सन्देह उपभोग की एक लुभावनी वस्तु लगती है, लेकिन वह भीतरी वातावरण या अंतरंग एक निर्वासित, अलग-अलग विस्तार होता है, यानी वह कोई जीवनमय जगह नहीं होती। यह ठंडा भीतरी विस्तार एक बहुत ही सघन, सक्रिय और जलते हुए बाहरी विस्तार के साथ रखा जाता है।

शक्ति और शक्ति के प्रभावों से तुम्हारा हमेशा सरोकार रहा है। 'चतुर इंद्रजाल' में तुमने ऐसी चीजों को चित्रित किया है जिनसे कि बूर्ज्वाजी अपने को घेरे रहती है—इस कोशिश में कि एक ऐसी दुनिया बन सके जो अपनी तरह से उनकी शक्ति और उपस्थिति को प्रमाणित करती हो। आजकल तुम जो काम कर रहे हो उसे देखकर लगता है कि शक्ति के प्रति तुम्हारा सरोकार बढ़कर एक ऐसा ज्यादा खुला और व्यापक सरोकार बन गया है जिसमें वे ताकतें भी आ जुड़ी हैं जो इन शक्तियों का मालिक है और इनका उपभोग करती हैं। यानी तुम सामाजिक चेहरे से चलकर अब राजनीतिक चेहरे पर आ गए हो।

यह बिल्कुल सच है। यह बदलाव जरूर हुआ है और इस बदलाव के साथ मैंने कुछ नए तत्त्वों का प्रयोग भी शुरू किया है। मैं चाहता था कि ये रेखाचित्र उस समय की जिसमें हम रहते हैं उस स्थिति के संदर्भ में व्यक्त करें जिसके अंतर्गत सर्वसत्तावादी शक्ति का उपभोग समाज के दमन के लिए किया जाता है। लेकिन इसके लिए मैं राजनैतिक कार्टूनों का सहारा नहीं लेना चाहता था। मैं शक्ति के एक विशिष्ट प्रतिरूप को ढूंढना चाहता था ताकि यह दिखाया जा सके कि वह किस प्रकार हमारे जीवन के सारे पहलुओं पर प्रभाव डालती है। और मुझे लगा कि इस विषय वस्तु को फंटसी-तत्त्वों के माध्यम से सक्षम प्रभावशाली ढंग से संप्रेषित किया जा सकता है। फंटेसी से मेरा मतलब यह है कि इन चरित्रों में रूपकीय आयाम उभारे जाएं, ताकि वे राजनीति की स्थानीय, विषयबद्ध और एकरस प्रकृति को लांघ सकें, और फिर मैं पेचीदगी के साथ इतिहास की तरफ लौटना चाहता था—यह दिखाने के लिए कि फासिस्ट दमन समय-समय पर अपना घृणित सिर उठाता रहता है और यह कि किस

प्रकार उसने अपने आप को पिछले करीब पचास साला म प्रकट किया है।

> शक्ति का चेहरा सडन और नतिक पतन का भी चेहरा है। जो लोग तुम्हारी कला से परिचित हैं, वे इन मायनो मे तुम्हारी शली को पहचान लेंगे। अब एक नया तत्त्व दिखाई देता है उल मोनोलिथ्स के बरक्स हम काले धब्बो की एक प्रभावशाली शृखला देखते हैं जिसका प्रभाव कुछ-कुछ गुफा चित्रो की याद दिलाता है।

शक्ति की ये आकृतिया हमेशा ठोस और भारी दिखाई गई है, आकृतिया अपने लडस्केप पर छा जाती है, उसके 'दृश्य' म बाधा डालती है। फॉम की दष्टि से मैं उन विशिष्ट लोगो या उन वस्तुओ को जो उनकी सूचक है, पेंसिल से शेड कर कर के बनाता हू ताकि उनमे वजन और आकार का बोध हो सके। साथ ही पाश्वभूमि या लडस्केप हमेशा रेखाबद्ध तरीके से बनाए जाते हैं। दूर से देखने पर आपको सिफ शक्ति का प्रतीक दिखाई देता है। पृष्ठभूमि केवल पृष्ठभूमि बनी रहती है—धीमी और दबी हुई, लेकिन जसे जैसे आप चित्र के पास आते हैं उस लडस्केप म हो रही एक उत्तेजित हलचल का एहसास आपकी नजरा को बाध लेता है। हर चित्र मे यह शिल्प सगति है, हर रेखाकन के भीतर अधेरा और गतिहीन अतराल तथा प्रकाशित और सक्रिय अतराल है। जैसे जैसे यह क्रम आगे चलता है, ये छोटे छोटे चिह्न धीरे धीरे और सामथ्य वटोरते हैं। कहना चाहिए कि वे लहरा उठते है और उनमे से क्राति के बीज फूटते है।

> हा। 'स्मारक 1' मे लगिक शक्ति का ह्रास होता दिखाई पडता है। 'फिगर इन हिस्ट्री' मे भी जनरल की आकृति धसते धसते चित्र की सतह से बाहर निकलने की कगार पर खडी है। दूसरी तरफ, पाश्वभूमि मे खड़ी लिलीपुट जसी आकृतिया अपने और अपने आसपास की जगह के अनुपात मे एक कहीं ज्यादा बडी आजादी और उग्रता से भरपूर जान पडती हैं। यहां वे लोग घात लगाए बठे हैं, और यहा किले मे कलह मच गई है। 'फिगर इन हिस्ट्री' मे एक अत्याचारी के हाथ पर बाध दिये गए हैं।

हा मैं जो कहना चाहता था वह इस प्रकार है कई बार चीजा को सतही तौर पर दख कर लगता है कि उनम कोई गतिविधि नही हो रही है और शक्ति से मुकाबला होते ही हर चीज निराशाजनक हो जाती है। लेकिन इति-हास से हम पता चलता है कि यह पूरी तस्वीर नही है। और यही वह चीज

है जिस पर एक कलाकार अपनी कल्पना से रोशनी डाल सकता है—यह दिखाते हुए कि स्थिति गंभीर और डरावनी है, न कि एक गुलाबी तस्वीर पेश करते हुए। लेकिन साथ ही उसे यह भी दिखाना है कि इस सारी स्थिति में कैसे वे चीजें जो पहले-पहल बिल्कुल छोटी और नामालूम-सी लगती हैं, बाद में मिलकर एक लड़ाकू शक्ति बन जाती हैं, और यह कि तब उनमें शक्ति की शिलाओं (मानोलिथ) को उखाड़ फेंकने की क्षमता आ जाती है। ये मानोलिथ अपने आप में लैंडस्केप या लोगों के ऊपर एक बोझ हैं। और मैंने इस तरह से उनका इस्तेमाल किया है कि वे एक निर्वासित विकास की तरह है—उन्हें देखकर उबकाई आती है, सड़ती हुई लाशों का बिखरता फैलाव। उस सड़न की वजह से, जिसे कि शक्ति अपने साथ लाती है, मानोलिथ अपने आतंरिक दहन के जरिये अपने आप को उस समय खत्म कर देगा जिस समय बाहर का सामूहिक यथार्थ भी हमले के लिए तैयार होगा।

असल में तुमने जिन चिह्नों का जिक्र किया है मैंने इरादतन, लोगों में एक आदिम और जीवंत इच्छा दिखाने के लिए उनका इस्तेमाल किया है। जब हम कहते हैं लोगों में, तो इसका अर्थ बिल्कुल शाब्दिक रूप में लोगों के किसी बड़े भारी समूह से नहीं जोड़ना चाहिए। किसी भी कृति का एक अपना विधान होता है, अपना चाक्षुष गतिशास्त्र होता है, कलाकार को उस वस्तु के प्रति सजग रहना पड़ता है जिसे वह रच रहा है। अगर मैं इसे नकार कर सिर्फ अक्षरशः लोगों को व्यक्त करने लगूं तो मुझे नहीं लगता कि वह कोई सार्थक चित्रानुभव होगा। इसलिए मैंने इन निशानों का उपयोग एक स्तर पर आदिवासी रूपाकारों के एक औपचारिक संदर्भ में किया है। लेकिन उस भाषा का इस्तेमाल मैंने यह बताने के लिए भी किया है कि लोक और जातीय तत्व हमारे समाज के परंपरागत और रूढ़िगत ढांचे में चारों ओर मौजूद है, और अपनी संरचनाओं से उन्हें घेरे हुए है—ऐसी संरचनाएं, जो जाति या वर्ग-समाजों की तुलना में कहीं ज्यादा स्वतंत्र हैं। ये शक्तियां क्योंकि मूलतः अधिक विकेंद्रित हैं रणनीति के स्तर पर वे बहुत स्वतःस्फूर्त ढंग से आक्रमण करती हैं। और इस बात को मैंने दो तरह की शिल्पगत संरचनाओं के विरोध के स्तर पर व्यक्त करना चाहा है।

हेराल्ड रोजेनबर्ग का यह कथन कि 'राजनीति हमारे समय की कला पर उसी तरह से हावी है जैसे उन्नीसवीं शताब्दी की कला में प्रकृति बार-बार लौटती नजर आती थी और उसके पहले के युगों में जिस तरह के पौराणिक और धार्मिक घटनाओं का जोर रहता था'—तुम्हारी रचनाओं में गूंजता लगता है। जैक-बूट

और हेल्मेट पहने लोग, विद्रूप चेहरे और शक्ति की पाशविकता। वे जाज ग्रास की भी याद दिलाती हैं।

दरअसल उन्नीसवीं शताब्दी में भी राजनीति कलाकृतियों की विषयवस्तु रही है। गोया, डेविड, देलाक्रॉय, कूर्बे और दामियर जैसे नामों को याद करो। लेकिन ग्रॉस वाली बात पर लौटें। ग्रॉस इस सदी के महान् व्यंग्यकारों में से एक था। वह बहुत बढ़िया रेखाचित्रकार था, उसने जर्मनी में फासिज्म से पहले और उसके बढ़ने के दौरान और वहां की बूर्ज्वाजी की जीवन-शैली, उसके रवैयों को अच्छी तरह से देखा था। लेकिन मेरी अपनी रचनाओं में ऐसा बहुत कम है जो ग्रॉस के यहां से लिया गया हो, क्योंकि जैसा मैंने कहा, ग्रास एक तरह से रिपोर्टर था, बहुत प्रतिभाशाली रिपोर्टर, जिसने अपने चरित्रों को उनके व्यक्तित्व या वेशभूषा इत्यादि को बारीकियों के साथ अंकित किया। मेरी अपनी रचनाओं में निरीक्षण के इस वैशिष्ट्य की कमी है, मेरे चरित्र ज्यादा सरलीकृत हैं। परिहास का तत्त्व उनमें है, लेकिन वह रेखाओं और आकारों में ही है। चरित्रों के व्यवहारों और लहजों का निरीक्षण करने वाला वह परंपरागत ढंग का परिहास नहीं है। मेरे चित्रों में आलंकारिक तत्व ही विशेष रूप से सामान्यीकृत हैं मैं उसे मूल रूप में ही रखना चाहूंगा।

लेकिन ग्रास और उससे असमानताओं की बात। लोग हालांकि जैक-बूट्स की बात करते हैं, जैक बूट्स मेरे रेखाचित्रों में प्रतीकात्मक आकार बन जाते हैं, जबकि ग्रॉस के यहां लोग उन्हें पहने हुए होते हैं। शायद तुम मेरा मतलब समझ गए हो। इसके अलावा ग्रास अपने रेखांकनों में प्रकृतिवादी दृष्टिकोण से काम लेता है, वातावरण के विन्यास को कुछ घनवादी, कुछ अभिव्यंजना वादी तौर-तरीकों से वास्तविक बनाए रखता है। और मैं विस्तार का प्रकृति वादी उपयोग बिल्कुल ही नहीं करता हूं।

फासिज्म के अंतर्गत राजनीति, यहां तक कि इतिहास भी नाटक बन जाता है। अपने ही देश को हमने एक बहुत बड़े प्रचार-तंत्र के सहारे एक नेता की छवि के आसपास सारी वास्तविकता को गढ़े जाते हुए देखा है 'इंदिरा इज इंडिया एंड इंडिया इज इंदिरा'। मैं तुम्हारे इंदिरा गांधी वाले भव्य पोर्ट्रेट के बारे में सोच रहा हूं, जिसमें इस नृशंस प्रक्रिया को अंकित किया गया है।

उस पोर्ट्रेट में व्यक्तिपूजा की शुरुआत की तरफ इशारा था। मैं एक तरफ चीजों को उस तरह दिखाना चाहता हूं जैसी कि वे हैं, लेकिन साथ ही उनके काम करने के ढंग में एक भटकाव का संकेत भी करना चाहता हूं। उस चित्र में उस इमेज का चेहरा बनाने के ढंग में यह चीज है। पहले-पहल आप उसे देखें,

तो वह एक बहुत शक्तिशाली और दबग प्रतिमूर्ति नजर आती है—जो कि वह थी—लेकिन जैसे जैसे आप चित्र के पास आते हैं जैस कोई भारी भरकम दीवार या किला धीरे-धीरे ढह रहा है, जो कि इस बात का सकेत है कि कोई एक ऐसी अपरिवतनीय प्रक्रिया है जो उस प्रतिमा को धीरे-धीरे नष्ट कर देगी।

शक्ति के उदय की खोज मे तुमने वस्तुशिल्पीय आकारो का उपयोग किया है—तानाशाह की कठोर व्यवस्था और ऊपर से अनुशासन लागू करने की प्रकृति को उजागर करने के लिए। मैं तुम्हारे लियोग्राफ 'द वेट एड आब्स्ट्रक्शन' का जिक्र कर रहा हू।

वस्तुशिल्पीय अभिप्रायो का मैंने इस्तेमाल किया है। मैं ऐसे आकारो और रूपो का इस्तेमाल करना चाहता था, जो शाब्दिक सदर्भो से दूर हो। किसी खड या भार का ऐसा आलकारिक उपयोग, जिससे यह पता चले कि किस प्रकार एकाएक हमारे दृश्य म अवरोध या विकृति आ जाती है।

सवसत्तावाद के तुम्हारे बिबो का एक दूसरा पक्ष भी है यौन-पक्ष। मेरा मतलब 'स्मारक' मे क्षय होते हुए लिंग वाले यौन प्रतीक, 'वाच टावर १' मे व्यभिचारी युग्म, 'वाच टावर-२' की मातृवासना की प्रतीक शया और मृत्यु के शृगारिक मुखौटे से है। उन्हे देखकर लगता है जसे तुम डेल्फी की चट्टानो द्वारा की गई भविष्यवाणी—'कोई गदी चीज हमारी इस मिट्टी को दूषित कर रही है'—को प्रतिध्वनित करते हुए कहना चाहते हो कि फासिज्म के अतगत यही होता है।

मेरे ख्याल से ऐस उदाहरण, खासकर तीसरी दुनिया के देशा के मौजूद है जहा कई शासको को अपनी शक्ति बनाए रखने के लिए खुद अपने परिवार के लोगो का सहारा लेना पडा है। हाल ही म हमने हिंदुस्तान मे इस होते देखा है—ठीक उसी तरह जसे कि यह श्रीलका, बगलादेश अफीका और लातिनी अमरीका म हुआ है। बढते हुए भीतरी और बाहरी अतर्विरोधो के कारण प्रजातात्रिक ढाचे का बन रह पाना असभव होता जाता है, इसलिए तानाशाह पदा होता है और अपने को सत्ता म बनाए रखने के लिए वह अपने ही परिवार के सदस्यो का सहयोग पाने पर विवश हो जाता है। मैंने इसी सदभ म यौन बिबा का उपयोग किया है एक व्यभिचारपूण सबध की तरफ सकेत करने के लिए। लगिक बिब इस तरह से बनाए गए हैं कि वे बदूको और गोलिया के आकारो से मिलते-जुलते हैं।

लेकिन कुल मिलाकर म नात्सी फासिस्ट तत्व को बहुत ज्यादा तूल देना

नही चाहता। जैक-बूट वाला सदम मेरे कुछ ही चित्रो म आया है और वहा भी वह एक व्यापक सपूणता का हिस्सा है। हिंदुस्तान म न तो उस ऐतिहासिक समय, जिसम हम रह रहे हैं और न ही सस्कृति के अर्थो म हम जमनी के फासिज्म जस स्टील हैल्मेट वाले चेहरे के बिंबो का समझ या पहचान पाएगे।

> सवसत्तावादी फासिस्ट राज मे राजनीति कलाओ की प्रभावोत्पादकता पर अधिकार जमा लेती है, राजनीति सौंदयशास्त्रीय बन जाती है। १६३३ मे गोएबल्स का यह कथन इसका क्लासिक उदाहरण है 'यदि कोई कला सर्वोच्च और सबसे अधिक व्यापक है तो वह राजनीति है।' साम्यवाद कला और राजनीति को दो बिल्कुल भिन्न और विपरीत दृष्टिकोणो से देखता है। यहां वाल्टर बेंजामिन की बडी खूबसूरती से कही गई यह पेचीदा बात याद आती है 'साम्यवाद कला को राजनीतिक बनाकर अपना उत्तर देता है।'

इस बात का कि कला को राजनैतिक बनाया जाता है, मतलब मैं इस तरह से समझना चाहूगा कि कला को जीवन और सामूहिकता की मुख्य धारा म लाया जाता है। इसमे कोई जरूरी नही कि सिफ राजनैतिक विषयो का इस्तेमाल किया जाए। असल मे यह कला की उस स्थिति के विरोध म है जहा वह लोगो के जीवन से कटी रहती है और जहा कला-वस्तुए स्वय उपभोक्ता वस्तुए बन गई हैं।

> राजनतिक कला के इस प्रश्न के दूसरे छोर पर उपयोगिता का सवाल भी पदा होता है यह कि कलाकृति या मूर्ति सघष मे किस तरह उपयोगी हो सकती है। यहां तक कि त्रात्की, जिसका विश्वास था कि कला को उसके अपने ही विधान से परखा जाना चाहिए, उसके बारे मे भी कहा जाता है कि तीसरी अतर्राष्ट्रीय प्रदशनी वाले टेटलिन के स्मारक की बियर की बोतल से तुलना की थी। इसलिए मैं कला और उसकी उपयोगिता वाले सवाल को बहुत मुक्त रूप से रखना चाहता हू।

मेरे ख्याल स कला और उसकी उपयोगिता वाले मामले मे सबसे पहले तो यह कि हम विभिन्न कलाओ को अलग अलग करक देखें, क्योकि हर कला की अपनी एक विशिष्ट और दूसरी से अलग ढग की सामाजिक उपयागिता है। म समझता हू, किसी एक ऐतिहासिक दौर मे हर माध्यम की अपनी सक्षमता

को आकते हुए हमे यह भेद करना होगा। जब किसी समाज विशेष मे कम्युनिस्ट क्राति होती है तो वहा प्रत्येक कला एक विशेष स्तर तक प्रगति कर चुकी होती है, और जैसा कि लेनिन ने पूजीवाद के अतगत वैज्ञानिक उपलब्धियो के एक-दूसरे के सदर्भ मे कहा है कि सवाल यह है कि एक नया समाज अपने आसपास उपलब्ध साधनो और रूपो को किस तरह उपयोग म लाता है। मसलन फिल्म मे, जो कि बीसवी सदी की विधा है, रचनात्मक विकल्पो की बहुतायत है और सर्वाधिक प्रभाव डालने की क्षमता भी है और वह एक बहुत बडे जन समुदाय तक पहुचने और उसे प्रभावित कर सकने मे सफल हुई है। यह कोई आश्चर्य की बात नही है कि आइजेंस्टाइन की फिल्म क्राति सोवियत सघ में हुई।

लेकिन कला और उसके उपयोग का दूसरा पहलू भी है मानव चेतना राता रात नही बदलती। और इसलिए जैसा कि लेनिन ने कहा है, क्राति करना सबसे आसान चीज है, लेकिन लोगो म आमूल परिवतन होने मे दशाब्दियाँ और शताब्दियाँ तक लग सकती हैं। यही वह स्तर है जहा कलाए योगदान करती हैं। सबसे पहले यही पहचानने म कि लोगो के रूपातरण की प्रक्रिया एक धीमी और क्रमिक प्रक्रिया है। महज इस बात से कि आपने उत्पादन के साधनो पर अधिकार जमा लिया है, यानी मूल आधार को बदल दिया है, सारी अधिरचना की हर चीज म अपने आप ही एक बदलाव नही आ सकता। मार्क्स ने तो पहले ही कहा था कि विकास का यह एक असमान सिद्धात है मूल आधार और उसके ऊपर बनी अधिरचना पर एक ही विधान लागू नही किया जा सकता। कला का सबध क्योकि अधिरचना से ही है, जरूरी नही कि उसके उपयोग, काय और उसके बदलते हुए पक्ष फौरन ही प्रत्यक्ष हो।

> कला का यह उपयोगितावादी दृष्टिकोण रूस मे स्तालिन के जमाने मे ऊलजलूल हदो तक पहुच गया था। कलाकार दस्तकार बनकर रह गया था, जिसे कि बधी-बधाई चीजें बनानी होती थीं जिनके विषय उसे दे दिए जाते थे। महान् नेताओ के चित्र, कारखाने की तरफ जाते हुए मजदूर, ट्रैक्टर चलाती हुई औरतें। वहां एक दोहराव होता था एक तरह की झूठी समानता। उन चित्रों मे हर आदमी और औरत स्वस्थ और मुस्कराते नजर आते थे। यथाथ किन किन चीजों से बनता है, इसके बने-बनाए नुस्खे थे। सवाल पूछे ही नहीं जाते थे और इस तरह कलाओ का काम राज्यों द्वारा दिये गए 'कथ्य' को 'रूप' देना भर होता था। यह बात पूजीवाद-पूव के

'फॉर्म' और 'कांटेन्ट' के संबंध के बहुत निकट बैठती है।

यह 'फार्म' देना नहीं, बल्कि विषयवस्तु को सिर्फ सुसज्जित करना है। अगर विषयवस्तु से ही शुरुआत समझी जाए तो किसी कलावस्तु की रचना प्रक्रिया के दौरान रूप और विषयवस्तु का संश्लेषण ही उसका कथ्य बन जाता है। और जब आप बिल्कुल कल्पनाहीन ढंग से विषय और उसके रूप से संबंधित तत्त्वों की खोज करते हैं तो नतीजे में कथ्य का एक बिल्कुल ठहरा हुआ, अर्थहीन पक्ष मिलता है। अगर आप चाहते हैं कि कलाओं के जरिये एक अद्भुत जीवनदृष्टि प्राप्त हो और कलाओं के अपने विधान हों तो आपको उन विधानों की खोज, बल्कि उन्हें ईजाद करने की प्रक्रिया की भी 'छूट' देनी होगी।

> **इस बात को लेकर हमें टेटलिन, मलेविच, कांदिस्की और दूसरे अग्रणी निर्माणवादियों की दुखांत स्थिति याद आती है जिन्होंने बोल्शेविकों की सामाजिक दृष्टि का साथ दिया था। लेकिन बाद में उन्हें लगा कि उन दोनों में शायद ही कोई समानता है। मानव चेतना में परिवर्तन करने की दृष्टि से कला और यथार्थ के सम्मिश्रण का अवांगार्द ढंग और उसी धरातल पर फिर कला और यथार्थ की तुलना व्यावसायिक क्रांतिकारियों के एक दल के लिए किसी एक तरह से अभिशाप थी, क्योंकि उनका विश्वास था कि कला अधिरचना का एक तत्त्व मात्र है और सारी अधिरचना तभी बदली जा सकती है जबकि उसका मूल आधार बदला जा सके।**

पहली बात तो यह है कि कला और यथार्थ को बराबरी पर रखकर देखने वाली बात एक तरह से भ्रामक है और मेरे ख्याल में इसमें कई अड़चनें आएंगी। निर्माणवादियों को ही लो। जिन चीजों को वे बना रहे थे, उनकी सामग्री और टैक्नॉलॉजी में धीरे धीरे वे काफी उलझ गए। शुरू-शुरू में उनका तर्क था कि वे विज्ञान के युग में रह रहे हैं और इसलिए सामग्री, तकनीक और संरचनाओं का विश्लेषण अपने आप में ही क्रांतिकारी था। सिद्धांतकारों ने उसे स्वीकार कर लिया और किसी हद तक वह ठीक भी था। लेकिन कला का यह 'तकनॉलॉजी' वाला दृष्टिकोण पराकाष्ठा तक ले जाया गया। निर्माणवादियों की त्रासदी यह थी कि अंतत वे अपनी प्रवृत्तियों में रूपवादी, शुद्धतावादी और पूरी तरह भाववादी बन गए। उनका सरोकार केवल कला-वस्तुओं में था, न कि चेतना के किसी आमूल परिवर्तन से, क्योंकि यथार्थ को उन्होंने बराबरी पर रखकर नहीं देखा बल्कि रचना प्रक्रिया के दौरान उसे बिल्कुल ही भुला दिया।

यह दिलचस्प बात लगती है कि कम्युनिस्ट और सवसत्तावादी समाजो मे अधिकृत कला का काम नेताओ और सिद्धातों को आदश और अमरता देना होता है। लेकिन उनमे बुनियादी फक यह है कि कम्युनिस्ट कला एक यूरोपियन नतिकता पर आधारित होती है, जबकि फासिस्ट कला एक यूरोपियन सौंदयबोध पर। कम्युनिस्ट कला अलगिक बन जाती है और नतिक अपेक्षाए रखती है। जबकि फासिस्ट कला के सामने एक भौतिक उत्कृष्टता का आदश और नेता की इच्छा के प्रति समपण का भाव रहता है।

कम्युनिस्ट और फासिस्ट समाजा म कला की बात करते हुए म समझता हू, जॉज स्टाइनर के इस कथन को याद करना प्रासगिक होगा कि कम्युनिज्म और फासिज्म म एक फक यह भी ह कि फासिज्म के अतगत कभी किसी महान कलाकृति की रचना नही हुई है। फासिस्ट कला विरोधी होते हैं। हिट-लर द्वारा किताबा को जलाए जाने और सदिग्ध कलाकारो की खोज जैसे घृणित काय इसके साक्षी हैं। दूसरी तरफ कम्युनिस्टो का कला के प्रति हमेशा एक गहरा लगाव रहा है। उन्हे इसकी शक्ति का एहसास है। कला उनके लिए आत्मान्वेषण की चीज रही है। कला से उनकी अपेक्षाओ के बारे म ही सोचें। कम्युनिज्म ने किसी न किसी रूप मे हमारे समय के अनेक बेहतरीन दिमागा को प्रेरित किया है। कम्युनिज्म का इतिहास इस शताब्दी के बौद्धिक और कल्पनाशील जीवन की बडी साहसिकताओ म से रहा है।

कम्युनिस्ट समाज म कला के बारे मे तुम्हारा यह कहना कुछ बहुत सही नही लगता कि वह नेतृत्व-पूजा को बढावा देती है और यह कि उसम जटिलता का अभाव है। कुछ विशेष कम्युनिस्ट समाजा मे विकास की प्रक्रिया म किसी एक स्थिति मे शायद उसका स्वरूप अधिकृत कला जसा हो गया हो, लेकिन मैं नही सोचता कि ऐसा सामान्यीकरण किया जा सकता है। स्टालिनवाद के अतगत इस तरह के निर्देशो ने कि *क्या दिखाया और कहा जाना चाहिए और* क्या नही, अवश्य ही बिल्कुल बाझ कला को जन्म दिया। लेकिन इस सवाल को अगर ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए और आज के साम्यवादी समाज की बात की जाए, तो आज हमारे पास एस कृतित्व की एक बडी मात्रा है, जिसका हवाला आप तभी दे सकते हैं जबकि हम इन देशा म कलागत स्वतत्रता का एक विशेष सीमा तक मौजूद होना स्वीकार करें। मसलन पूर्वी यूरोपीय सिनेमा की समृद्ध विरासत की बात को जा सकती है और फिर कला और सस्कृति के प्रति एक शासकीय दृष्टिकोण, जसा कि क्यूबा जसी जगह म है, शायद कुल *मिलाकर दुनिया म अपने ढग का एक निराला ही दृष्टिकोण है। उनकी फिल्मा,*

पोस्टर आट, उनके लेखका म और उनके सदेशा और शैलियो के तकशास्त्र मे हम यह देखते हैं।

> राजनीतिक सघर्ष के लिए कला के उपयोग वाली बात से यह अनुमान भी अनिवाय लगता है कि कलाकृति मे एक सदेश होता है, ऐसा सदेश जो सघप के सदभ मे स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है। यानी यह कि किसी पेंटिंग मे एक रग सकेत की तरह प्रयोग किया जा सकता है और वह पेंटिंग उसी तरह पढी जा सकती है जसे कि एक पोस्टर। यहां वसे यह पूछा जा सकता है कि पिकासो की गणतत्रीय 'गेर्निका' उद्देश्यो के लिए किस काम की हो सकती थी। लेकिन इस तक से तो फिर भर्ती के लिए लोगो को निर्देशित करता हुआ एक सीधा-सादा पोस्टर ज्यादा असरदार होता।

'गेर्निका' एक स्थिति की अभिव्यक्ति थी—पिकासो की अपनी नजर म आदमी की आदमी के प्रति क्रूरता की। 'भर्ती' का पोस्टर बनाने वाला नजरिया उसके पीछे कभी नही रहा। यदि 'गेर्निका' की समीक्षा करनी है तो वह भीतर से करनी होगी, आप उसके सामने कोई ऐसी माग रख ही नही सकते जिसे पूरा करने का उसने कभी वादा नही किया था। गेर्निका' उस चीज को अभिव्यक्त करती है जिस लाखो पोस्टर कभी व्यक्त करने की सोच भी नही सक्ते थे।

> इस सवाल को अगर तुम्हारे व्यक्तिगत सदभ मे लें, १६७० मे जब तुम लदन मे एक कम्यून मे रह रहे थे। उस समय कलाकार की भूमिका और सामाजिक व्यवहार सबधी अपेक्षाओं को लेकर एक सकट की सी स्थिति पदा हो गई थी। लेकिन फिर भी अतत तुम मे अपने कला-काय के लिए उत्साह पदा कर ही लिया।

हा, सकट तो या। बडी खलबली का माहौल था—छात्र आदोलन के कारण और मई की घटनाओ की लहर ने सारे यूरोप को लपेट लिया था। उस वक्त फिर मुझे विचारा के एक ज्यादा बडे ढाचे का एहसास हुआ, विचार, जो हमारे समय मे कलाकार की भूमिका पर प्रश्न चिह्न लगाते थे और साथ ही जिन्होने इस बात की तरफ भी ध्यान खीचा था कि कला-वस्तुए उपभोग की सामग्री बन चुकी हैं। मैं इस बात के लिए मजबूर हो गया कि मैंने अब तक जो कुछ भी किया है और अब जो कर रहा हू, उसके बारे म सवाल करू। मैं तरह-तरह की आदोलनकारी हलचलो म शामिल हो गया। और फिर मैंने पाया कि दरअसल मूल बात यह है कि मैंने पेंटिंग करना बद कर दिया था

और यह कि मुझे पेंट करने की जरूरत ही महसूस नही होती थी । लेकिन वह ज्यादा दिना तक नही चला । हिंदुस्तान वापस आने पर मैने धीरे-धीरे काम शुरु कर दिया । और मुझे लगा कि वही काम था जो मैं सचमुच करना चाहता था । मैंने यह भी पाया कि वह अपेक्षा जिस ढग से मेरे सामने रखी गई थी कि मै उस सारी कला को, जिसकी रचना उस वक्त हो रही थी, इसलिए नकार दू कि वह एक बूर्ज्वा समाज मे पैदा हो रही थी, बिल्कुल झूठी थी । कला के बारे म उस तरह की एक सरलीकृत धारणा उस वक्त के माहौल म सचमुच मौजूद थी और मै उसमे साथ बहने लगा था ।

लेकिन जैसा मैने कहा कि यह वह समय भी था जब मैं कितने ही नय विचारा और अनुभवो के ससग मे आया और उसी कारण फिर यह एक 'विश्व दष्टिकोण' मेरे भीतर पैदा हुआ । वापस आने के बाद सघष था और सघष अब भी मेरे सामने है कि अपनी एक ऐसी व्यक्तिगत सवेदना किस तरह से विकसित की जाए जो स्मृति से प्रतिबद्ध हो और साथ ही जो यथाथ को एक निष्पक्ष भाव स देख सके ।

वैसे तो किसी माक्सवादी कलाकार के लिए भी यह निर्धारित नही है कि वह क्या बनाए । जिम तरह एक क्रातिकारी को इस प्रक्रिया से गुजरना पडता है कि वह अपने अतीत को दोबारा खोजे, और उसे अपनी नयी चेतना की रोशनी म विकसित होते हुए 'विश्व दृष्टिकोण' म बदले, उसी तरह कलाकार यदि अपने आप से ईमानदार है तो वह इस प्रक्रिया से गुजरता है—अतत एक अदभुत दष्टिकोण सामने रखने के लिए ।

इस तरह से मैने हाल के अपने इन रेखाकनो म एक तार्किक दृष्टिकोण से काम लिया है । किसी एक सुगम और स्पष्ट विषय को लेकर मैने शुरुआत की है और बाद मे फिर उसी विषय तक एक ऐसी प्रक्रिया के माध्यम से पहुचना चाहा है जो उसके बिल्कुल विपरीत है । यदि वह एक राजनीतिक विषय है, जसा कि इन रेखाचित्रो म है, तो मैंने उस पर बिना आत्मसजग हुए, एक अतदृष्टि के साथ हमला किया है । क्योकि एक सैद्धातिक स्थिति तो हरकिसी के पास होती ही है, इसलिए मुझे लगता है कि उसे सजीव बनाने के लिए एक प्रतिबिंदु को सामने रखना भी जरूरी हो जाता है । मुझे इस बात म पक्का विश्वास है कि यदि आप किसी एक विचार से शुरुआत करते है तो जब तक कि उस मूल विचार मे रचना प्रक्रिया के दौरान कोई परिवतन नही होता है, वह कभी भी एक सफल कलाकृति नही बन पाएगा ।

तुम्हारे रेखाकनो को देखकर और भविष्य के लिए जिस तरह एक आशा बधाते हैं, उसे देखकर मुझे लगता है कि तुम एक 'महाकाव्य'

> जसे दृष्टिकोण को सामने रखने की दिशा मे आगे बढ़ रहे हो। तुम्हारे कलाकम मे एक प्रकार की आत्मसजग वस्तुपरकता दिखाई देती है इतिहास का एक तीव्र बोध और उसका उपयोग। विरोधाभास इस प्रकार सामने आते हैं कि वे आखो को अच्छे लगते हैं और साथ ही दिमाग का दखल भी मागते हैं। एक महा काव्य परिप्रेक्ष्य मे इस पूवधारणा का एहसास होता है।

ऐपिक फॉर्म' का मतलब मैं तो यही समझता हू कि उसम तत्काल सुलभ अर्थों व अतर्निहित जटिल अर्थो के बीच एक तार्किक सवध होता है। जो सुलभ है वह विषय वस्तु या आकार प्रकार के स्तर पर है। यह एक ऐसी चीज है, जो आपके देखने और महसूस करने वाले पक्ष पर असर डालती है और उसके बाद आपको एक बौद्धिक निष्कप निकालने के लिए कहती है। इस एक जगह से दूसरी जगह जाने का मतलब है कि आप दशक को एक सतत अनुभव करने से रोक रहे हैं। यानी आप एक वस्तुपरक यथाथ के प्रति उसकी आत्मसजगता को बढाने की कोशिश म बाधाए डालते जा रहे है।

कला से बहुत बडी-बडी अपेक्षाए की जाती हैं—वह एक वस्तु भी रहे और सकेत भी, आह्लादित भी करे और शिक्षित भी जादुई भी हो और प्रबोधक भी, यानी कुल मिलाकर वह सब कुछ हो। कला को यदि कुछ भी होता है तो उसे हर चीज के बारे म सवाल करना होगा। क्या मैं खुद उन जटिल क्षेत्रो की तरफ बढना शुरू कर रहा हू? मुझे नही मालूम।

अभी बहुत से चित्र हैं जो मैं बनाना चाहता हू और हर बार जब आप शुरुआत करते हैं तो सामने सिफ एक खाली कैनवास होता है।
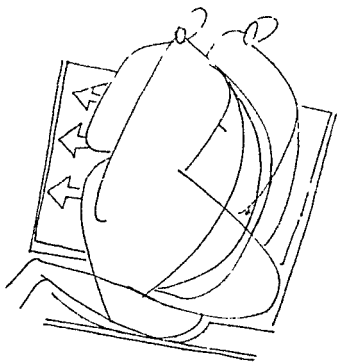
हैरल्ड रोज़ेनबर्ग ने आधुनिक कला आलोचना को नयी सार्थकता और समृद्धि प्रदान की है। रूढ़िमुक्त और रचनात्मक आलोचना भाषा ने कलाकारों के सृजन कार्य को नयी अभिव्यक्ति भी दी है। कलालोचना की अनेक पुस्तकें चर्चित हुई हैं।

●

मेलविल एस० टयूमिन प्रख्यात फ्रेंच कला समीक्षक। सभी महत्त्व की फ्रेंच की पत्र पत्रिकाओं में रचनाएं प्रकाशित। अनेक दिग्गज कृतिकारों से इंटरव्यू भी प्रकाशित हुए।

हैरल्ड रोजेनबर्ग से ट्यूमिन की यह बातचीत अगस्त १९७८ में हुई थी। रोजेनबर्ग की मृत्यु से चंद महीने पहले।

००

पहले शुरुआत करें 'यूयाकर' में छपे 'जस्पर जॉन्स' के बारे में लिखे गए आपके उस लेख से जहां आपने 'बॉदलेयर' को उद्धृत किया है, "आधुनिक विचार-दृष्टि में विशुद्ध कला क्या है? यह एक ऐसे आमंत्रण भरे चमत्कार का सृजन है जो एक साथ ही एक बाह्य उपस्थिति भी है और आंतरिक भी, जिसमें कलाकार के बाहर फली दुनिया भी मौजूद होती है और उसकी भीतरी दुनिया भी।" और जहां तक मैं समझ पाया हूं आप इससे सहमत हैं।

हां खास तौर पर जैस्पर जान्स के संदर्भ में। जैस्पर जान्स का यह मत था कि कला एक पूर्णरूपेण तटस्थ प्रक्रिया है जिसमें कलाकार का निजत्व या उसकी शख्सियत बिल्कुल गैरहाजिर होनी चाहिए। यानी वे कला को पूरी तौर से निर्वैयक्तिक मानकर चले हैं इसी से बादीलेयर की यह बात कि कला में वैयक्तिक या निर्वैयक्तिक दोनों का ही समावेश होता है, उनकी उस गलत-फहमी के संदर्भ में रखना मुझे ठीक लगा।

तो यह बादीलेयर की बात आपके विचारों के भी करीब हुई। कला को लेकर।

पर यह बात, यह तो नहीं कहती कि कलाकृति क्या है?

पर बादीलेयर ने यह तो पूछा ही है कि विशुद्ध कला क्या है?

उसमें, यानी विशुद्ध कला में मुझे कोई रुचि नहीं, ऐसी कोई विधा दरअसल

है भी नहीं । मुझे लगता है कि विशुद्ध कला की बात करते वक्त बॉदीलेयर, परिभाषा के स्तर पर नहीं, कलाकृति की मनोवैज्ञानिक (आप चाहें तो उसे आध्यात्मिक कहें) जरूरतों के बारे में बोल रहे थे । जहां एक कलाकार एक सार्थक कलाकृति गढ़ता है तो उसके भीतर बाह्य जगत् और अपने अंतर्जगत् दोनों की पूरी पहचान हर पल रहती है तर्कशास्त्र से परे एक जादुई-से तरीके से ।

तो कलाकार के भीतर एक चामत्कारिक समझ होती है वस्तुजगत की अपनी ?

दोनों की ही, और एक साथ ही । इसी से हर कलाकृति में बाह्य जगत् भी मौजूद रहता है और कलाकार भी ।

यह तो पूरी परिभाषा नहीं हुई ।

यह परिभाषा है ही कहां ? यह तो महज एक शर्त है सार्थक कला के रचे जाने की । आप चाहें यह कह लें कि यह एक ऐसी अनिद्य संपूर्णता की परिभाषा है जो कला में प्राप्य न होने पर भी काम्य है । पर मैं, बॉदीलेयर से इस बात पर सहमत हूं कि कला का उद्देश्य एक साथ बाह्य जगत को समझना और कलाकार के अंतर्जगत की भावनाओं को मूर्त रूप दे पाना है । इधर कलाकार की निजी भावनाओं को पीछे धकेलकर कला में से 'स्व' को एकदम तिरोहित कर देना और कलाकार को एक वैज्ञानिक की तरह कला का एक बेचेहरा रचनाकार भर समझना, यह बात जड़ पकड़ रही है । तकनीकी क्षेत्र के कला से गठजोड़ से ऐसे कलाकार सामने आते गए हैं जो अपने को मात्र तकनीशियन मानकर चलते हैं ।

पर ऐसा क्यों हुआ है ? क्या यह इससे पहले की अत्यधिक वैयक्तिकता से आक्रांत कला के विरुद्ध एक विद्रोह है ?

यह ऐब्सट्रैक्ट एक्सप्रेशनिज्म के विरुद्ध प्रतिक्रियाओं की एक लंबी शृंखला है । इन्हीं में जैस्पर जॉन्स भी था जिसने कहा था कि वह जादुई रहस्यमय बिंबों के बजाय ऐसी चीजें चित्रित करना चाहता था जिन्हें लोग पहले से ही जानते हों और फिर उसने अमरीकी झंडे गणित के अंकों, वर्णमाला के अक्षरों वगैरह की तस्वीरें बनाईं कि यह रहीं वे चीजें जो मैंने ईजाद नहीं कीं ।

पर ऐब्सट्रैक्ट एक्सप्रेशनिज्म में ऐसा क्या था जिसके विरुद्ध यह प्रतिक्रिया हुई ?

यह तो लंबा चौड़ा विषय है । पर एक मूल कारण यह रहा आया कि एब्स्ट्रैक्ट

एक्सप्रेशनिस्ट यह मानते थे कि कलाकार एक चामत्कारिक इलहाम की ओर लगातार बढता रहता है, यह बात जरा खटकती है विलियम डि कूनिंग ने कहा था कि वह जीवन भर एक ही पेंटिंग पर काम करता रह सकता है। ये तमाम कम उम्र के नये कलाकार यह नही चाहते थे। वे कई सपूण कला-कृतिया की रचना करना चाहते थे, उन्ह बेचना चाहते थे, एक पूरा कलाकार का कैरियर जीना चाहते थे और यह सब कलाकारा की नामल आकाक्षाए हैं। पर एब्सट्रैक्ट एक्सप्रेशनिस्ट एक चरम तनाव हरदम जीते थे, पालाक को लें या, रॉथको या क्लाइन वे कला म ही नही अपने जीवन म ही मूल बदलाव चाहते थे। और यह एक खतरनाक कला थी ?

आप कह रहे हैं कि यह कला खतरनाक थी, या कि कला ही खतरनाक है ?

कला से आप जो चाहे कर सकते हैं। आप इसे बेचने लायक, अमीरा का दिल खुश करने लायक जिन्स भी बना सकते हैं, उनके घरा म भी रग कर सकते हैं

पर कला है क्या ? यानी घर रचना भी कला हो गई ? और वह भी जो जीवन को बदलने की प्रक्रिया हो ?

सीधी बात है। एक मानवीय रचनात्मक काय परपरा ३० हजार साला से चली आ रही है। उसे हर कोई जानता है और कला का नाम देता है। कला का अथ यही है।

पर उसे अन्य काय परपराओ से अलग कसे किया जा सकता है ?

एक मिनट रुकिए, जो मैंने विशुद्ध कला की बात कही सो इसलिए कि बॉदी लेयर ने कहा है कि यह एक अवस्थिति भर है जिसे कभी कभी कोई कलाकृति पा लेती है। यदि मैं इसकी जगह होता तो विशुद्ध के बजाय प्रामाणिक शब्द का इस्तेमाल करता। पर मुख्य बात तो यह है कि वह हाशिया पर ऐसी कला के लिए खासी जगह छोडता है, जो विशुद्ध नही पर कला है, जो कोई भी कला के इतिहास स परिचित है, जानता है कि कला का एक खासा बडा भाग पहले भी दुकानो म दुकाना की अपनी तकनीक से बनाया जाता था। जसे १८वी शती के फ्रास मे बडे घरा के लिए शिल्प।

तो आपके लिए कला, इस शब्द का अथ आवश्यक रूप से उत्तमता या मूल्य का द्योतक नहीं है। आप कह रहे हैं कि यह एक ऐसी

प्रक्रिया है जिसमे हर तरह के लोग, हर तरह की क्षमता या अक्षमता समेत भागीदार होते हैं

हा, मैं सोचता हू कि यह सही है, क्योकि अगर हम एसा न करें तो हम ऐसी स्थिति म आ जाएगे जहा परिभाषा मात्र परिभाषा न रहकर अपने-अपने मूल्य की कसौटी स्वय बन बैठेगी। अगर आप खराब कला को कला स अलग कर दें तो कला के अथ म सिफ उत्कृष्ट कला नही बच रहेगी ? दरअसल फिर हम कलाकृति की अवधारणा भी नही बना पाएग क्योकि कला कहलाने को उस एकदम परफेक्ट होना पडेगा। कला की सही इयत्ता तो विशेषणो के इत पर ही निभर करती है।

तो आप एक निबध आयाम इस शब्द 'कला' को देना चाहते हैं ?

हा।

और फिर वहां से मूल्यात्मक अवधारणाओं, आयामो, गुणो, लक्ष्यो की विवेचना की तरफ मुडना ?

हा।

तो हमे कला शब्द की जमना पडताल करना जरूरी नहीं। यह एक हलचल, एक गतिविधि है जिसमे चाक या रग या सुरो की गति या नाद कुछ भी शामिल हो सकता है ?

हा।

आप कला को एक मूल मानवीय गतिविधि या आचरण क रूप मे देखना चाहते हैं जो वज्ञानिक गतिविधियो से कतई अलग है मसलन मोटर चलाना या—जिमनास्टिक ?

सही है मैं श्रेष्ठता से दूर हटना चाहता हू क्योकि श्रेष्ठ की अवधारणा का लगभग राजनतिक अथ निकाला जाने लगा है। कलाकृति की श्रेष्ठता को अपने आप म सपूर्ण गुण मानकर देखना एक अकादेमिक विचार है। जब आप श्रेष्ठता की बात कर रहे होते हैं तो आप यह मानकर चलते हैं कि कला का मुख्य महत्त्व शुद्ध रूप से गुणात्मक व पूणत श्रेष्ठ होने मे है, जबकि कई बार एक कलाकृति दूसरी कलाकृति की अपेक्षा बेहतर या कुछ कम हो सकती है, बगर एक सपूण या खराब कलाकृति बने हुए जैसा कि मैंने कहा सर्वागीण एक अकादमिक विचार है जिस आजकल बडी आक्रामकता के साथ इस्तेमाल किया जा रहा है।

पर आप आलोचना मे तो इस रवये को नापसद नहीं करते ?

ठीक है, मैं एक आत्रामक मुहावर की आक्रामक आलोचना कर रहा हू तब।

चलिए अब कुछ ऐसी बातो की चर्चा करें जिनके आधार पर आप कलाकृतियो का मूल्याकन करते हैं। उनमे से एक बात जो आपने कभी अनचाहे कह दी थी, वह यह है कि उस विचार का अधिक महत्त्व है जिसका सामना कलाकार कर रहा है, या यह कठिनाई जिससे वह जूझ रहा है ?

शायद आप जो सोच रहे हैं वह बात कलाकार की इच्छा या लक्ष्य से जुडी हुई है पर मुझे कठिनाई शब्द मौज नही लगता। यह एक और जोखिम-भरा शब्द है क्योकि सभी को मालूम है कि कलाकार के सामने कठिनाइया होती है। मैं तो पिकासो से सहमत हू जब वह कहता है, 'मैं नही करता, पा लेता हू।' पिछले बीस सालो म विश्वविद्यालयीन कला शिक्षा का एक बुरा नतीजा यह सामने आया कि कला को कठिनाइया सरन करने वाली विधा का दर्जा दे दिया गया है। कई ऐसी कठिनाइया तो इन अकादमिक विद्वानो ने उछाल दी हैं जो सिर्फ उन्ही के लिए अस्तित्व रखती हैं कलाकारो के लिए नही।

तब आपकी इस स्थापना का क्या अर्थ है कि जब आप एक कलाकृति को देख रहे होते हैं तो उसके मूल्याकन का मानदड कलाकार का वह विचार है, जिसे व्यक्त करने की वह चेष्टा कर रहा है और इसी का अनुषग यह भी कि वह विचार अपने विभिन्न आयामो मे क्या महत्त्व रखता है ?

ठीक है कई विचारो का इतिहास कला के क्षेत्र मे बहुत पुराना है और कुछ विचारो के दायरे हमारे जीवन से मूलभूत तौर से जुडे रहे है जसे लाल और नीले रगो का सयोजन यह ज्ञान का एक रूप है—चाक्षुष रूप रगो के प्रभाव को समझना कुछ लोगो के लिए यही वह क्षेत्र है जहा चाक्षुष कलाए अपनी पूरी सभावनाओ को व्यक्त कर सकती हैं पर मैं यह नही मानता। यह सच है कि रगो का प्रयोग चित्रकला का एक विशिष्ट भाग है, पर कला के इतिहास मे यही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण क्षेत्र नही है।

तब वे कौन से विषय हैं जिन्हे कला के इतिहास मे बहुत अहम् स्थान मिलता रहा है ? वास्तविक रूप से अहम् विषय ? ईश्वर ?

ईश्वर ? हा, पारपरिक रूप से चित्रकला का एक बडा अग धार्मिक या अशरीरी प्रश्नो से जुडा है। अतीत म यह क्षेत्र हर सस्कृति का मुख्य विचार-

क्षेत्र था, हालांकि अब नहीं रहा। यह अनीन्द्रिय विचार क्षेत्र चित्रकला का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग रहा है। इसी से मैं कहता हूं कि कला पर यूं बातचीत करना उस रंगों के अतिरिक्त और कुछ उसमें जरूरी हो ही नहीं, गलत होगा।

क्या एक अदने विषय पर एक महान् कलाकृति आधारित हो सकती है?

यहां आप पारिभाषिक जटिलताओं में उलझने लगते हैं। अगर कलाकृति महान है तो विषयवस्तु को अदना नहीं कहा जा सकता सजां के सेबों के उस प्रसिद्ध चित्र को ही लीजिए, वहां सिर्फ सेबों से भरा टोकरा ही नहीं है, और भी बहुत कुछ घट रहा है।

तो आप यह मानते हैं कि महत्त्व के लिहाज से चित्र में रंगों को लेकर उठे सवाल, फलसफे को लेकर उठे सवालों से कम अहमियत रखते हैं।

हां पिछले बीस सालों में कला आलोचना के क्षेत्र में यह एक काफी बड़े विवाद का विषय रहा है, और जैसा कि साहित्य में भी हुआ है। और कुछ लोगों को एक चित्र के अर्थ निकालने या खोजने पर सख्त एतराज होता है।

क्या आपको भी है?

नहीं मुझे एक कलाकृति में गहराई और सघनता की तलाश गैरवाजिब नहीं लगती चित्र के दर्शक को पूरा हक है कि वह जितने अर्थ उस कलाकृति में ढूंढ पाए ढूंढे।

यह तो एक प्रजातांत्रिक बात हुई, अधिकार वाली

नहीं, बात यह नहीं। हर वह व्याख्या जो कलाकृति तक हम ले जाती है कला को और समृद्ध करती है। और हर कलाकृति अपने साथ उन विभिन्न व विशिष्ट व्याख्याओं का प्रभापुंज लिये रहती है।

पर गलत व्याख्या से नुकसान नहीं हो सकता क्या?

वे सब व्याख्याएं कहीं न कहीं तो एकांगी और गलत होती ही हैं, पर हर अच्छी कलाकृति उनको निबाहने लायक दम रखती है ही।

मैं सोचता हूं कि एक काम जो आलोचक करना चाहता है, वह है कलाकृतियों को अपने समय के अंधकार और उन विचारों की बाढ़ से बचाना, जो कई कलाकारों की वक्त जरूरत से ज्यादा कूती गई है, और उनकी कला के

घटियापने को दरस पाना इन चालू निर्णयात्मक अवधारणाओं के चलते असंभव हो जाता है। वहीं पर कई कलाकारों को, जो उन जैसे नहीं हैं, कला को सही सम्मान नहीं मिल पाता। कई बार एक हास्यास्पद रूप से लचर कलाकृति सिर्फ प्रमोशन के बल पर टिकी रह जाती है, उस वक्त उसकी मूल्यहीनता की पोल खुलना अच्छी कला के टिक पाने के लिए जरूरी हो जाता है। इसी से व्याख्याओं और अवधारणाओं की करीबी और तुलनात्मक पड़ताल जरूरी है। कम से कम हमारी बड़बोली शती में।

अब मैं यह पूछना चाहता हूं कि क्या कोई तरीका है जिससे विभिन्न विचारों को लेकर विभिन्न माध्यमों की सीमाओं और सामर्थ्यों को कूता जा सके?

मुझे यह वक्तव्य ठीक नहीं लगता। हमारे समय का एक काफी महत्त्वपूर्ण विचार यह है कि रेखांकन चित्रों या शिल्पों के माध्यम का अपना एक निजी अस्तित्व होता है और वे एक ऐसे विचार या विचार मंडल की सर्जना कर सकते हैं जो अन्य प्रकारेण असंभव है। संक्षेप में यह कि माध्यम ही चित्रकला में चित्र का मूल उत्स है और एक तरह से वही चित्र को रचता है। सब चित्रकार यह विचार नहीं रखते और जरूरी भी नहीं है कि वे रखें पर अपने में यह एक काफी उत्तेजक और उत्पादक विचार है। पर साथ ही यह एक रहस्यात्मक विचार भी है जो तर्क के दायरे में नहीं आता।

तो आपको यह नहीं लगता कि इस बात पर तर्क वितर्क करने का कोई लाभ होगा?

पता नहीं आप इसे सिद्ध कैसे करेंगे पर मैं तो सिर्फ यह कह रहा हूं कि कुछ कलाकारों का यह विचार है कि माध्यम की अपनी एक जीवंत इयत्ता है।

यह कुछ फर्क हुआ इस बात से कि पिछले बीस सालों की चित्रकला, चित्रकला को ही विषय-वस्तु मानती रही आई है।

यह जरूरी नहीं कि सारी कला अपने इस व्यक्तिगत कार्यव्यापार की ही उपज हो। वह कलाकार के बारे में भी हो सकती है। कलाकार और विगत वर्षों की कला के बारे में भी आप यह कह सकते हैं कि कुछ चितेरों का विश्वास है कि माध्यम एक रहस्यमय अतीन्द्रिय ढंग से प्राणवान है और कैनवास मानो दिमाग बनकर सोच सकता है, और आप उनके शब्दों में यूं कह सकते हैं कि कला में दिमाग का मूर्त बाह्य कारण माध्यम के रूप में होता है।

तो एक कसोटी जांचने की यह भी हुई कि कलाकार कितनी कल्पना-शीलता और जानकारी सहित माध्यम की क्षमताओं और शक्तियों को पकड़ पाता है ?

मैं इन फतवों को लेकर अपने विचार तय नहीं करता मैं ठोस अवस्थितियों को ही लेकर सोचता हूँ। मैं एक सश्लिष्ट विचारक हूँ।

सही है। और आप अवस्थिति को दिखाकर बताते हैं कि ऐसा क्यों है और आप विचारों के स्तर पर भी इसे स्पष्ट करते हैं, सिर्फ स्थूल चाक्षुष स्तर पर नहीं।

यह ठीक है। पर आप चाहे तो इस तरह के सामान्यीकरणों में इस बात को कह। मैं अपने सामान्यीकरणों की और सामान्यीकृत नहीं करता मुझे बॉदी लेयर की एक और बात उद्धृत करने दें। वह एक कला समालोचक था और मुझसे कहीं ज्यादा इधर-उधर के चक्कर काटता रहता था उसका कहना था कि उसका जीवन बड़ा आसान हो जाता अगर वह एक साफ-सुथरा सिस्टम बना सकता कला को जाचने का, और हर प्रदर्शनी में जाकर उसके सहारे तुरत फटाफट अपना वक्तव्य प्रस्तुत कर देता। पर जब उसने एक ऐसा व्य-वस्थित सिस्टम बनाने की चेष्टा की तो वह इतना उकता गया कि उस इस्तेमाल करने की इच्छा ही न रही तो उसने कहा है कि उसे नये सिरे से सबकी शुरु-आत फिर करनी पड़ी कहने का मतलब यह है कि एक चित्र को देखते समय जो-जो विचार मेरे भीतर उठते हैं वे चित्र के ही कारण मेरे अंतस में आकार ले पाते हैं। और ठीक उतने ही विचार मूर्त हो पाते हैं, जितने कि चित्र कराता है। इन विचारों के परे मैं नहीं जानता कि चित्र क्या है इसलिए प्राय जब मैं चित्रों को देखता हूँ तो मेरे मन में कोई राय नहीं बनती। मुझे उसके लिए इतजार करना पड़ता है, इसके अलावा कला समालोचना के प्रति कोई भी दूसरा रवैया रूढ़िबद्ध होगा ऐसा मैं मानता हूँ।

एक राजनीतिक सम्मान वाले टैक्सी ड्राइवर ने एक बार कहा है कि सारी चित्रकला, एकाध अपवाद छोड़कर, पूंजीवाद के हाथ की कठपुतली है, उसका प्रचार माध्यम है। आपकी इस पर क्या राय है ?

अधिकांश लोग कला को लेकर इसी तरह सोचते हैं यानी उनके पास एक खास समूह होता है कलाकारों का, जो उनकी नजर में जायज है, बाकी जो कुछ भी और लोग कर रहे हैं, उनके लिए कतई बकवास है, उस टैक्सी वाले के सामने कला क्षेत्र के कुछ नाम हैं जो उनकी पूरी कला क्षेत्र की जानकारी को बनाते

है, ऐस लोगो के लिए कला की कसौटी यह है कि वह कितनी गुत्थिया सुलझाती है।

मैं फिर से लौटना चाहता हू—इस प्रक्रिया की तरफ जिसमे विवेचनात्मक और आलोचनात्मक प्रक्रिया को वचारिक जाना-पहचाना जाता है ? क्या जसा कि विज्ञान के क्षेत्र मे होता है कला के क्षेत्र मे भी किया जा सकता है, कि करीब आठ दसेक ऐसी स्पष्ट वचारिक कसौटिया हो, जिन पर खरा उतरे बिना कलाकृति उत्तम नहीं कहला सकती ? खेल के क्षेत्र मे भी यह मानदड हे।

लोग तो हरदम यह करत रहते है, नही ?

क्या आपकी राय मे यह गलत हे ?

वैचारिक जामा पहनाने की प्रक्रिया मे भी अनिवायत शैली की बात बीच मे आती है। आप खराब भाषा मे कला समालोचना लिख ही नहीं सकते। जो लिख सकता है, कला आलोचक नही बन सकता। एक विशिष्ट विवेचनात्मक शैली उस पर होनी ही चाहिए। ज्ञान और कला की सीमाओ मे यह एक बडा अतर है। वहा कई बार खराब भाषा म भी सम्यक और सटीक आलोचना आप पाएगे एक कलाकृति का जाचने के लिए कोई भी तटस्थ वस्तुनिष्ठ मानदड नही बन सकता।

क्यो ?

आजकल विश्वविद्यालया के पडित एक नकली समानता और अत निभरता का मुद्दा विज्ञान और कला को लेकर बहुत उछाल रहे है। वे एक सा तटस्थ वैचारिक दष्टिकोण और दो टूक निणय दोनो क्षेत्रो म लागू देखना चाहते है। बॉदीलेयर न कहा है कि कला समालोचना का क्षेत्र विवादमूलक है। कला के बारे म आप अपनी मान्यता स्थापित करते है सवसम्मत विचार नही तलाशते फिरते, क्योकि यहा आपका मूल मानदड आपका अपना अनुभव है। उस कलाकृति विशेप को लेकर जाहिर है हर किसी का यह अनुभव निजी और भिन्न होगा ही।

पर वे अनुभव एकदम निजी भी नहीं होते। कहीं न कहीं वे एक सास्कृतिक पृष्ठभूमि की सावजनिकता लिए होते हैं।

यह सभव है कि कुछ लोग कुछ कलाकारा को लेकर थोडे या ज्यादा समय को सहमत हो, पर आप गहरे मे जाकर बात टटोलें कि आपकी पसद या नापसद के कारण एक दूसरे मे बिल्कुल भिन्न है हमारे युग म जो कला की जगह

विज्ञान अधिक महत्त्वपूर्ण होता चला गया है, उसका कारण यही है कि हमारा आधुनिक समाज एक तकसगत बुद्धिपरकता पर टिका है, बजाय एक किस्म की सार्वभौमिक सहभावना से, जैसा कि पहले था इसी स किसी भी बुद्धिमान व्यक्ति से बात करते हुए आज हम यह कभी मानकर नहीं चल सकते कि उसकी भावनाए भी हमारी ही सी होगी या उसकी पृष्ठभूमि म एक उभयपक्षी शक जरूर मौजूद रहेगा।

क्यो ? मान लीजिए हमारा सालो का साथ हो तो क्या यह सभव नहीं कि विगत के सहारे हम एक दूसरे की भावनाए या प्रतिक्रियाए काफी हद तक सरलता से समझ लें ?

आप एक ऐसा तथ्य प्रतिपादित कर रहे है जो कला के क्षेत्र मे गरहाजिर है। हमारे सामने कला का क्षेत्र कई हमला का शिकार रहा है—जापानी कला, अफ्रीकी कला, प्रि कोलम्बियन कला, धार्मिक कला, लोक-कला, उनकी हर तरह की शैलिया, माध्यम, सबका ऐतिहासिक रूप से कला मूल्यो पर गहरा असर पडता रहा है। अब विज्ञान के क्षेत्र म ता ऐसा नही हुआ है कि राता रात भौतिकी के नियम या नजरिए ही बदल गए हा। या कि इतने सार समातर नजरिए य नियम सामने आ खडे हुए हा। वहा परपरा सतत रही आई है, प्रगति भी। कला म प्रगति इस तरह नहा होती, वहा हर नयी ऐतिहासिक, प्रागतिहासिक खोज के साथ कला की एक धारा फिर फिर पीछे मुडकर अतीतोन्मुखी होती रहती है। ऐसे निरतर चलायमान गडबडझाले मे सवसम्मत तार्किक स्थापनाओ का क्या स्कोप हो सकता है ? अगर आपको दो ऐसे लोग मिलें जो कुछ कलाकारो के साथ ताउम्र उठते बठते रहे हो, उनमे भी भीपण वाद-विवाद हो सकते हैं। हमारा समय एकल सस्कृति समय है और हर कलाकार मौद्रिए की तरह अपनी सारी ऊर्जा से एक ऐसी इकलौती स्थापना ढूढता फिरता है जिस पर आने वाली पूरी की पूरी पीढिया अपनी सामूहिक सम्मति देगी हमे कला म अफ्रीकी आदिवासियो की सहज निश्छलता और वोधगम्यता की तलाश है। जहा बौद्धिक नही भावनात्मक स्तर पर कला को समझा जाता है पिछले बीस साला की कला म आप पाएगे कि पुराने सत्यान्वेषी तरीको और सौदय-दृष्टि का कुछ भी नहीं बचा है। कला सौंदयमूलक तो अब रही ही नहीं फिर इसकी यात्रा किस दिशा को है ? मुझे लगता है कि कला अब ज्ञान के अन्य सब ज्ञात इलाको के बाहर का एक अज्ञात इलाका बन जाना चाहती है यानी जसे आप एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण लिखें और छपाए तो वह तो हुआ मनोविज्ञान पर अगर आप मनोविज्ञान के ज्ञात विषयो से बाहर जाकर एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत करें तो आप उस आट

गैलरी मे टागकर कला की सज्ञा दे सकते हैं। मेरे कहने का मतलब यही है कि कला की रचना अतत सामाजिक और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे ही होती है और अगर समाज कहता है कि हा यह कला है तो आप प्रतिवाद करके यह नही कह सकते हैं कि कला यह नही, यह है जब कला का सौदयमूलक आधार ध्वस्त हुआ, तो कला दश्य ससार की बीहड तथ्यपरकता से जा मिला। और अब आप इस अनमापे क्षेत्र मे केवल उन्ही निजी स्थापनाओ को रख सकते ह जिन्हे आप अपने विचारो और तक स सिद्ध कर सकते है। इसी से मै कहता हू कि कला अब पूणत विवादमूलक है

कई कलाकार तो आज सिफ इसलिए कलाकार हैं कि वे कलाकार के नाते जाने जाते हैं। उनकी कला मे मुझे कला कही नजर नही आई पर जन सपक और प्रचार माध्यम जब गला फाडकर कह रहे है कि वे कलाकार है तो मेरे जैसे व्यक्ति को कौन सुनेगा ? बहुत करके मैं एक विवाद का छीटा भर उठा सकता हू।

> **तो इसका मतलब यह हुआ कि कला को लेकर कुछ तो निश्चित धारणाए आपकी हैं ही, जिनको मानदड मानकर आप बहस उठा सकते हैं कि यह कला है या कि यह नहीं है।**

शायद मैं यह बात सिफ एक आधिकारिक दृष्टि से कह रहा हू आपका मान दडा पर जरूरत से ज्यादा आग्रह है।

> **और आपका उनसे बच निकलने पर।**

मै बता चुका हू कि मेरा उनमे यकीन नही। अगर आपके निश्चित मानदड है तो आपको उन्हे हर क्षेत्र मे लागू करना ही होगा हा, कार खरीदनी हो तो कुछ मानदड काम आते है पर कला की बात और है।

> **खर यह छोडें। यह बताइए कि क्या आप यह जिम्मेदारी उठाना पसद करेंगे कि आप म्यूजियम मे टागे जाने वाली कलाकृतियो का चयन अपनी पसद पर करें ?**

इसमे एक चक्कर यह है कि म्यूजियम या गलरिया के बारे म मेरे कुछ अपने विचार हैं।

> **खर, यह सामान्यीकरण भी छोडें। क्या आप आने वाली पीढ़ियो की रुचि सवारना चाहेंगे ?**

रुचि गलत शब्द है। आप मूल्या की बात कह तो हा।

क्या आप यह पसद करेंगे ?

आपका प्रश्न दरअसल इसको लेकर इतना नही है कि क्या मैं उन्हे कला सबधी मूल्य दूगा, बल्कि इसमे यह सोच निहित है कि वे इन मूल्यो का क्या करेंगे ? यह मैं क्या जानू ? प्राय लोग मेरे विचारो से प्रभावित होकर एकदम कूडा रचते हैं यह मैंने खुद देखा है आप दरअसल पहले से बता नही सकते हैं कि आपके तक दूसरे को किस तरह प्रभावित करेंगे हमारे समय के विराट् अलगाव के कारण आप अपने विचार दूसरा तक पहुचा भर सकते हैं, इससे आपके विचारो मे वह सुधार या फैलाव नही आ पाता जो आपके लिए भी लाभदायक होता । यह अलगाव हमारे अमरीकी समाज की एक विशिष्टता है।

क्या आप किसी विशेष सामाजिक या राजनीतिक वातावरण को कला की रचना के लिए अधिक मौजू मानेंगे ?

यह एक बहुत गभीर सवाल है । क्योकि अच्छी कला तभी जन्म लेती है जब समाज मे एकरूपता हो, वैचारिक तादात्म्य हो, आदिम समाज, मध्यकालीन यूरोपीय समाज इन सबम महान् कला की रचना सभव हुई क्योकि मूल्य निश्चित व स्पष्ट थे आपको कला की सरचना करने को खड सचाई नही एक सामाजिक सपूर्णता चाहिए व्यक्तिनिष्ठ अकेलापन नही । यह एलियट ने भी कहा है, मौंद्रिए ने भी कहा है । यह विचार कला मे बार-बार उभरता है। मूलत यह व्यक्ति के महत्त्व से जुडा है—वयक्तिकता के घटाव से बस इस 'स्व' को खत्म कर दीजिए आपके समाज म महान कला, अध्यात्म, पारस्परिक सप्रेषण सब खुद-ब-खुद उपज जाएगे । बस इस 'स्व' नाम के खटमल को मारना होगा ।

पर माइकेल एजेलो से तो किसी ने इस खटमल को मारने को नहीं कहा ?

उनकी कठिनाई यह नही थी । वे तो पुराने विचारो की जकडन से व्यक्ति परकता, इस खटमलपने की तरफ पहली बार मुड रहे थे । यह स्थिरता का नहीं, हलचल का वह समय था जब व्यक्ति की इस नयी स्थिति की पूरी पडताल होनी बाकी थी । हमारे समय म जब वह स्थिति स्थिर हो गई है तो अकेला व्यक्ति अब सबकी नजरो म सदिग्ध है । कम्यूनिज्म, औद्योगिक व्यवस्था, सब व्यक्ति के विरुद्ध है। अनुवर्तितत्व की भेडिया धसान हमारे समय की बडी शक्ति है बिना विध्वसात्मक यूटोपिया रचे हुए आज का कलाकार, आज कला के स्वस्थ हालात नही बना सकता, आज ऐसी दशा हो गई है ।

क्या यह एक सार्वकालिक सचाई नहीं है ?

नही, सिर्फ हमारे समय की है हम जानते नही कि स्वतन्त्रता एक वैयक्तिक चीज बनकर रह गई है हम यह बखूबी बता सकते है कि ब्राजील या चिली मे इस मामले मे क्या किया जाए, पर अपने देश के बारे मे हम चुप है क्योकि यहा स्वतन्त्रता असीमित है। जो उस पर बदिश है वह निजी या अदरूनी है। यह कहना कतई गलत है कि जनरल मोटर्स या टेलीविजन हमारी रुचि भ्रष्ट कर रह हैं। आप यदि अपनी रुचि भ्रष्ट न होने देना चाह तो वह कर सकते है।

तो सरकारी सास्कृतिक अनुदानो के बारे मे आपकी क्या राय है, जो कला रुचि विकसित करने के लिए दिए जाते हैं ?

मैं उन पर शक करता हू, क्योकि उसमे एक स्पष्ट राजनैतिक गठजोड है एलीट पर हो रहे प्रहार, एक तरह स अबौद्धिकता को बढावा देने का प्रच्छन्न तरीका है, यह बुद्धि के क्षेत्र म राजनीतिज्ञो के लिए द्वार खोलना है ताकि कला जगत मे वे अपने भाई भतीजो व दोस्ता को ठूस सके। आज कला सरकारी तथा सस्थागत अनुदानो पर बेहद निभर हो उठी है जो खतरनाक बात है। क्योकि सरकार और सस्थाए कला मे अपन निजी कारणो की तईं ही इतनी रुचि ले रहे ह। कलाकारो या कला के हित के लिहाज से नही।

इससे कुछ पहले आपने कला महाविद्यालयो की आलोचना करते हुए कहा था कि कला और वचारिक ट्रेनिंग युवा मस्तिष्को के लिए बहुत जरूरी है और वह यह महाविद्यालय उन्हे नहीं दे रहे हैं।

क्योकि जब कला के विभाग इन विश्वविद्यालयो म खोले जाते है तो धीरे धीरे कला के डिग्रीयाफ्ता स्नातको के जत्थे तैयार हाने लगते है, जो कला विभागो से सबद्ध कलाकारा को अतत बाहर कर अपनी डिग्री के बल पर वे पद हथिया लेते हैं और इससे विश्वविद्यालयीन कला एक अकादेमीय एप्रोच का शिकार होते होते पढाई का एक सपाट विषय भर रह जाती है जो सीधा क्लासरूम से निकलता है, स्टूडियो से नही। आज कला आलोचना भी विश्वविद्यालयो से ही निकल रही है—आप कोई भी आलोचना पत्रिका उठाकर आलोचक की डिग्रिया का मुआयना कर सकते हैं।

तब क्या हमे कला के बारे मे इनके बाहर बठे कलाकार जो कह रहे हैं उस पर कान देना चाहिए ?

बिल्कुल। पर हमे उन्हे ठीक से सुनना गुनना आना चाहिए क्याकि अक्सर वे आपको धोखा दे रहे होते या सच को छिपात रहे होते हैं। पर फिर भी उनके

वक्तव्यो के महत्त्व पर शक नही किया जा मकता आप उनकी बातो और उनके काम को अगल बगल रख कर वखूबी उनके सच झूठ को बीन सकते हैं।

साहित्य समालोचना के बारे मे आपकी क्या राय है ?

यह कला समालोचना स बहुत पुरानी विधा है। और बहुत ज्यादा समृद्ध भी। इतनी आलोचनाओ की भीड म हमेशा दो चारेक अच्छी तो मिल ही जाएगी।

अत मे चद सवाल और। इस बात को लेकर आप क्या कहना चाहेंगे कि आज कलाकारो की कठिनाई यही है कि कला के प्रति पाद्य विषय उन्हे नही मिलते।

हमारे समय म यह हमेशा एक भारी कठिनाई भी है क्योकि हमारे कलाकारो ने कला विषयो के परपरा निर्धारित स्वरूप को तोड डाला है, इसी से विषय-वस्तु का स्वतत्र चयन माडन होने की निशानी बन गया है। आधुनिक एप्रोच यही है कि वास्तविकता का अकन किया जाए। अब वास्तविकता है क्या ? हर कला आदोलन एक नयी परिभाषा दे रहा है हम पता नही आज हमारे कलाकार अपने पूववर्ती कलाकारा से अधिक आजाद है या नही पर उनम से कई यदि पेट करना वद कर दें तो बडा अच्छा हो। कला तक आजकल हर किसी की पहुच हो गई है।

हर किसी की कला तक पहुच हो गई है, कला की सामग्री हर किसी को प्राप्य है, हजारों म्यूजियम व गलरिया हैं, दशक बढ़े हैं, चुनने की आजादी बढ़ी है।

हा, सब कुछ बडा खुशनुमा, बडा चैन भरा है, सिवा इसके।

किसके ?

इस बात के कि अब किसी को बढिया आइडिया जो नही आते।

(पार्टीजन रिव्यू अक ४, वप १९७८ म छपे लवे इटरव्यू के कुछ चुने हुए अश। साभार।)
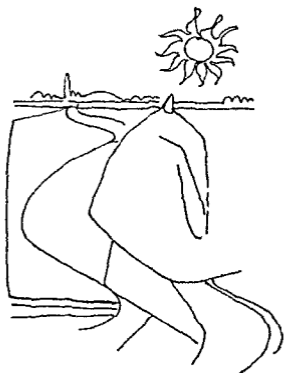
सत्यदेव दुबे उन अग्रणी रंगकर्मियों में से हैं जिन्होंने समकालीन हिंदी रंगमंच में मौलिक ढंग से सोचने और काम करने की शुरुआत की है। अपनी ३० वर्ष की रंग यात्रा में उन्होंने प्रायः सभी आधुनिक और श्रेष्ठ नाटककारों के नाटक खेले और अपनी एक विशिष्ट रंगशैली आविष्कृत की है जो साहसिक प्रयोगशील और रूढ़िमुक्त है। बंबई में हिंदी रंगमंच के वर्तमान विकास और उसकी जीवंतता का श्रेय बहुत हद तक उन्हें जाता है।

आपने ३० से अधिक हिंदी और मराठी में स्तरीय नाटकों का निर्देशन किया है जिनमें—अंधा युग, आषाढ़ का एक दिन, ययाति आधे अधूरे, पगला घोड़ा सखाराम बाइंडर सुनो जनमेजय आदि प्रमुख हैं।

इन दिनों बंबई में थियेटर यूनिट के साथ कार्यरत हैं। मध्यप्रदेश कला परिषद् द्वारा आयोजित उत्सव '७३ में आपको राजकीय सम्मान और मध्य प्रदेश शासन के सांस्कृतिक विभाग द्वारा शिखर सम्मान से अलंकृत भी किया गया है।

●

शंकर शेष चर्चित रंग लेखक। फन्दी अरे मायावी सरोवर, एक और द्रोणाचार्य, रक्तबीज और पोस्टर आदि नाटकों की विशेष रूप में चर्चा।

दुबे, इससे पहले कि मै आपके थियेटर के बारे मे पूछताछ करू, अच्छा यह होगा कि आप थियेटर को लेकर अपने करियर के बारे मे कुछ बता दें।

१९५२ मे मैं बबई आया। इरादे कुछ और थे। लोग अक्सर बबई एक्टर बनने आते है। पर मैं आया था एक महान् क्रिकेट खिलाडी बनने के इरादे से। चूकि अब मैं टेस्ट खिलाडी नही हू, इसी से तुम समझ सकते हो कि मेरे क्रिकेट कैरियर का क्या हुआ।

जो हुआ, बहुत अनपेक्षित नहीं था।

इसके बाद एक साल तक थियटर मे प्रोप्टर की हैसियत से भटकता रहा, १९५५ म फिर थियेटर म आया। मेरे कालेज के साथी थियेटर यूनिट आव ड्रामेटिक आट मे जो भर्ती हो गए थे, वे लोग तो धीरे धीरे रवाना हो गए लेकिन मैं बना रहा। १९५७ ५९ म पी० डी० शेनाय का इस क्षेत्र मे बडा दबदबा था। लेकिन इस अरसे मैं बबई मे बाहर चला गया था और मैंने सागर विश्वविद्यालय से अग्रेजी मे एम० ए० की डिग्री हासिल की।

उसके बाद आप थोडे दिनो अग्रेजी के अध्यापक भी तो रहे।

क्या नही। बिलासपुर मे एस० बी० आर० आट स कालेज मे पढाता रहा, लेकिन १९६० मे मे फिर बबई आया। फिल्मो म। लेकिन तीन महीनो के भीतर ही मुझे समझ मे आ गया कि इसमे वक्त खराब करने म कोई अथ नही है और इसी समय मैंने तय किया कि दुनिया को ये दिखाना चाहिए कि मै भी कुछ हू मेरी भी कोई अहमियत है। और इसके बाद मैंने हिंदी म नाटक करना शुरू किया। मेरा सबसे पहला नाटक पिरेदलो के 'राइट यू आर, 'इफ यू थिक सो' का हिंदी अनुवाद था। इस नाटक को मैंने निर्देशित

तो किया ही, इसमे काम भी किया। मेरे एक नाटक 'चौकीदार' (पिरेंदलो के 'केयर-टेकर' का हिंदी अनुवाद) म मेरे अलावा हरिहर जरीवाला (अब प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता सजीवकुमार) और नरेन्द्र सठ थे। इसके बाद मैंने जिन विदेशी नाटककारो के नाटक मचित किए, उनम कामू, सात्र, यूगो वेटी, पिंटर इब्सन और चेखव शामिल हैं। 'क्रास परपज' का हिंदी अनुवाद 'सपन' भी मेरी प्रारभिक महत्त्वपूण निमिति थी जो थियटर यूनिट ने प्रस्तुत की थी। एक नाटक 'मुने क्वीरा' का निर्देशन भी इसी काल म मैंने किया था।

लेकिन आपकी सजनात्मक जिंदगी मे पहला उल्लेखनीय मोड कब आया ?

अधायुग' के साथ १९६२ म मेरी सजनात्मक प्रक्रिया ने एक नया मोड लिया। यह मेरी उल्लेखनीय सफलता थी। अधायुग' का मचन जस अपने ही खून की एक सायक जाच थी। एक मूल भारतीय नाटक का मचन एक भारी चुनौती थी और उसी तरह अन्य मूल भारतीय नाटको का मचन भी। मैंने अब तक चार-पाच भारतीय नाटका का मचन किया है।

स्वाभाविक रूप से ये भाषाए हिंदी, मराठी, बगला, कन्नड हैं।

इन्ही मे तो पिछले दो दशको म उल्लेखनीय नाटक लिखे गए है। इस बात का तो मैं दावा कर ही सकता हू कि मैंने उन सभी भारतीय नाटककारो के नाटक मचित किए हैं जिन्होने छठे और सातवें दशक के अब तक के वर्षों म भारतीय रगमच को आकार दिया और जिनकी समकालीन भारतीय रगमच मे अहमियत है। अब नाटको और कलाकारो के नाम गिनाऊ तो सूची अपने-आप मे बहुत बडी हो जाएगी। पिछले पद्रह वर्षों मे मैंने अधायुग (भारती—१९६२) आषाढ का एक दिन (राकेश—१९६३), नाटक तोता मना (लाल—१९६४), सुनो जनमेजय (आद्य रगचाय—१९६६), ययाति (गिरीश कर्नाड—१९६७), शुतुरमुग (ज्ञानदेव अग्निहोत्री—१९६८), आधे-अधूरे (राकेश—१९६९), मैं सूअर हू (नद किशोर मित्तल—१९६९) एव इद्रजित (बादल सरकार—१९७०) पगला घोडा (बादल सरकार—१९७०), स्टील फ्रेम (विनायक पुरोहित—१९७०), हयवदन (गिरीश कर्नाड—१९७१), सखाराम बाइडर (तेंडुलकर—१९७२), अनुष्ठान (ज्ञानदेव अग्निहोत्री—१९७२), अच्छा एक बार और (मोहित चट्टोपाध्याय—१९७३), गार्बो (महेश एलकुचवार—१९७४), सभाग स सयास तक (सत्यदेव दुबे—१९७५), बेबी (तेंडुलकर—१९७६), अरे मायावी सरोवर (शकर शेष—१९७६) किए। इसके अलावा कुछ उल्लेखनीय समकालीन नाटको की प्रस्तुतिया मैंने मराठी म की, जसे वल्लभपुरची दतकथा

(बादल सरकार–१९६६), धाडसी धोडू (अच्युत वझे), कारवेंत कळसा (जाथ रगाचाय), ययाति (गिरीश कर्नाड)। सखाराम बाइंडर का दिग्दर्शन गुजराती म मैंने ही किया था। इन नाटको के अलावा बद दरवाजे (नो एक्जिट), प्रेत (इब्सन), पूगा बेटी के क्वीन एड द रेबेल्स का हिंदी अनुवाद, इन्कलाब जस विदेशी नाटको की मेरी प्रस्तुतिया अच्छी मानी गइ। इन्कलाब तो मेरा ही अनुवाद था।

> **मैंने हिसाब लगाया पिछले १५ वर्षों मे आपने करीब ३० नये नाटक प्रस्तुत किए। मेरा ख्याल है हिंदी क्या किसी भी भारतीय भाषा म किसी भी दिग्दर्शक ने इतनी प्रस्तुतियां नहीं कीं।**

मेरी भी जानकारी म तो ऐसा दिग्दर्शक नहीं है। अब कलाकारों की ही बात लो। आज बबइ के रगमच पर जिन अनेक कलाकारो ने ख्याति अर्जित की है और समकालीन रग आदोलन मे महत्त्वपूर्ण हिस्सा लिया है, मेरे साथ कहीं न कहीं जुडे रहे है। अब नाम ही लू ना अमरीश पुरी, सुलभा देशपाडे, सुनीला प्रधान, अलकनदा समथ, अमोल पालेकर, नितिन सेठी, सरिता खटाउ, काति माडिया, कविता नागपाल, विनोद नागपाल (दिल्ली जाने स पहले), नरला मेहता, दीना पाठक, अनुया पालेकर, भक्ति बर्वे, दीपा श्रीराम, ज्योत्स्ना कार्येकर, विहग नायक, गजानन वगैरा, चद्रशेखर शेनाय रेखा सबनिस, नसीरुद्दीन शाह, सुनील शानभाग माहन भडारी, नीना जोशी, हरीश पटेल उत्कष मोजूमदार—न जाने कितने नाम हैं। इनम हिंदीभाषी हैं गुजरातीभाषी है। यदि सभी कलाकारो के नाम लू तो सख्या १०० स कम नही होगी।

> **यानी पिछले १५ वर्षों मे नाटक का एक युग का युग आपसे होकर गुजरा है। लेकिन एक बात तो साफ दिखाई देती है और वह है कि धीरे धीरे विदेशी नाटको से भारतीय नाटकों की ओर आप जो मुडे, तो विदेशी नाटको की सख्या अपने आप घट होती गई। ऐसा क्यों ?**

ऐसा होना क्या स्वाभाविक नही था ? शक्र, १९६० के बाद भारतीय भाषाओ म नाटक भी तो अच्छे लिखे गए। आज का हर प्रासगिक नाटककार १९६० के बाद की ही देन है। उन अच्छे नाटको म ऐसा कुछ जरूर था जो दिग्दर्शक की सजनात्मकता को चुनौती और गति देता है। फिर अपने इदगिद की जिंदगी की विसगतिया तनावो को सामने लाने मे कुछ अपना करने का भी तो सुख है।

जब आपने इतनी प्रस्तुतियां कीं और जहां तक मैं जानता हू कि तलाश का तत्त्व बराबर इनमे था, तो इनका असर समकालीन गुजराती और मराठी रगमच पर नहीं हुआ ?

हुआ क्यो नही। तुमने खुद छबीलदास म आने वाले दशका को देखा होगा। मराठी और गुजराती म इतना नियमित रगमच होने के बावजूद मेरी प्रस्तुतिया म गैर हिंदीभाषी दशका की सख्या कही ज्यादा होती है। उन दशका म भी ज्यादातर लोग कही न कही थियटर स जुडे लोग ही होत हैं या प्रबुद्ध तबके के होते हैं। अगर दूसरी भाषा के लोग और वे भी रगकर्मी मेरे नाटका को इतनी नियमितता स दखते हैं तो इसका अथ है कि प्रस्तुतिया का प्रभाव उन पर होता है। जब लोगा को कुछ मिलता है तभी तो वे दूसरी भाषा का नाटक देखने जाते हैं।

लेकिन झगडे भी कम नहीं होते। क्या बात है, जितने मित्र उतने ही दुश्मन ?

अब झगडा होता है तो मैं क्या करू। झगडा भी अक्सर किसी तात्विक बात या किसी के क्षुद्र व्यवहार को लेकर ही करता हू। ज्यादातर लोगो स काफी जमकर लडाई होती है। पर ये झगडे, मतभेद होते बडे सजनात्मक हैं और जिनमे झगडा होता है अगर वे प्रबुद्ध हुए तो इस कम के लिए मरा आदर भी करते है। मैं उन लोगा की परवाह नही करता जो या मुझस बोलना बद कर देते है या पीठ पीछे गाली देते है। आपस म झूठ बोलने स मुझे सख्त नफरत है। बस भी अपनी शक्ति की समय-समय पर जाच के लिए शत्रुओ का होना जरूरी है। लडाई जारी रहनी चाहिए। एक मामले म शत्रुओ के प्रति कृतज्ञता भी दिखानी चाहिए। थियेटर यूनिट के खिलाफ इतना रोष न होता तो क्या थियेटर जितना कर पाया, कर पाता ? अगर मुझ पर कोई हमला करता है तो म उलटकर वार जरूर करता हू। म कभी कभी भूल जाता हू लेकिन माफ कभी नही करता।

अगर मै गलत हू तो १९७१ मे आपको सवश्रेष्ठ दिग्दशक का अवाड सगीत नाटक अकादमी से मिला और इसके बाद होमी भाभा फलोशिप। 'हयवदन' तो दिल्ली मे प्रधान मत्री ने देखा। १९७३ मे मध्यप्रदेश शासन ने भी आपका सम्मान किया। इन सब अलकरणो के बाद आपकी सजनात्मक सधान की गति कसी रही है ?

अवाड या अलकरण के होने या न होने से मेरी सजनात्मक सधान की प्रक्रिया

पर कोइ असर नही होता । मैं इस निगेटिव एक्सप्लोरेशन कहूगा । उसम कोई अतर नही आया । १९७२ के बाद भी मैंन चार वर्षों म नौ नय नाटक प्रस्तुत किए । पुराने जीवित रखे सो अलग । यह भी सच है कि धीरे-धीरे मरी व्यस्तता बढी है । दस काम और जुड गए हैं । कभी-कभी समय कम होन की बेहद खीझ होती है लेकिन थियेटर तो मेर सपूण अस्तित्व को घेरे हुए है । वह मेरे जीवन के भीतरी ततुआ स जुडा है । वह मरी समग्रता है । इसलिए जब मैं किसी नाटक म काम करता हू, रिहसल करता हू या नाटक स जुडे लोगा कलाकारा स बात करता हू तो मैं अपन म होता हू, जीता हू । इसके अलावा मरे पास थियटर की अपने सदम स कटकर कोई अलग से व्याख्या नही है । थियटर मैं इसलिए करता हू कि थियेटर बिना मैं रह नही सकता । मैं कभी महसूस नही करता कि मैं थियटर करके हिंदीभाषियो या दशका पर एहसान कर रहा हू । कुछ लाग कुछ करके ही सुख महसूस करते है । थियटर करना मरी अपनी सजनात्मक विवशता है । उसी प्रकार दशक भी थियटर म आकर हम पर कोइ एहसान नही करता । वह इसलिए आता है कि साथक नाटक दखना उसकी अपनी विवशता है । यह विवशता जब किसी भी समुदाय क सास्कृतिक जीवन का अनिवाय हिस्सा बन जाती है तो नाटक को दशक अपने आप मिलने लगत हैं । अगर नही मिलत तो उसके कारणा की तलाश दशक के भीतर ही हानी चाहिए, किसी भी समुदाय की पूरी भीतरी और बाहरी सरचना म हानी चाहिए । अगर नाटक लिखना तुम्हारी विवशता है तो करना मेरी ।

बात को फिर से 'होमी भाभा फलोशिप' पर लौटाए । आपका प्रोजेक्ट क्या था ?

बिल्कुल सीधा सादा । सिनेमा और थियेटर के बीच इटरएक्शन और दोना मे अतर्निहित प्रभावशीलता के तत्त्व । हालाकि मैंने इस पर काम किया लेकिन यह कहना मेरे लिए भी सभव नही है कि मेरा एप्रोच थ्योरेटिक्ल या प्रक्टिकल । बस कोशिश हमेशा रही है कि मैं अपना एप्रोच प्रक्टिकल ही रखू और मैंने उस थ्योरी को ढूढने की कोशिश की जो मेरे अब तक किये की कसौटी बनती । ये तो तुम भी मानोगे कि पिछले पद्रह साल से थियेटर करते करते मेरी इस कला माध्यम पर अच्छी खासी पकड है और मैं ये भी मानता हू कि सिनेमा माध्यम की अपनी समझ के कुछ प्रमाण मैं दे ही चुका हू । इन दोनो सश्लेषण के बारे मे मैं जब सोचता हू तो भारतीय सदम मे ही सोचता हू । वैसे भी किसी माध्यम की सपूण शुद्धता मे मेरी रुचि नही है । मेरी रुचि है सवाद म । सप्रेषणीयता मे और दशक के रेस्पास म, लेकिन मैं ऐसा उस

घटिया स्तर पर नही चाहता जो विज्ञापन या हिंदी सिनेमा मे होता है। मैं उसे सवेदन के ऊचे धरातल पर चाहता हू। मैं दर्शक की अनुक्रिया एक ऊच धरातल पर पाना चाहता हू जो बहुत ही सृजनात्मक उत्स से पैदा होती है। वहा इस मैन रेस्पास मैनिपुलेशन भी रहा है।

होमी भाभा फैलोशिप के सदर्भ मे 'राइटस वर्कशाप' की बात अपने-आप सामने आ जाती है। क्या मकसद था? क्या निष्पत्ति हुई?

अब तुम भी तो उस वर्कशाप का हिस्सा थे। अपना 'द्रोणाचार्य' नही पढा था क्या तुमने?

लेकिन और लोग तो नहीं थे। वर्कशाप हुए भी करीब अब तीन साल हो गए। जरा एक मूल्यांकन की वापसी निगाह क्यों नहीं डालते?

राइटस वर्कशाप मेरी अपनी कल्पना थी—और मेरे प्रोजेक्ट का हिस्सा। इसीलिए फिल्म इस्टीटयूट जैसी जगह मैंने वर्कशाप के लिए चुनी थी। उस दस दिन के वर्कशाप मे मैंने उन लेखको को बुलाया था जो मेरी निगाह मे आने वाले कल के नाटककार थे। महेश एलकुचवार गोविंद देशपाडे, सतीश आलेकर, सुहास तावे, दिलीप खाडेकर, दिलीप जगताप, अच्युत वझे और तुम। तुम तो जानते ही हो कि प्रतिदिन सुबह के सत्र मे हर एक नाटककार ने अपना न खेला गया नाटक पढा, उसके बाद बहस की। वह शाब्दिक मार-काट। वह खुलापन। और इसके बाद अमोल लागू मैं और दूसरे दिग्दर्शको की बेहिचक राय। इन सबका फायदा नाटककारो को हुआ। अपनी रचनाधर्मिता, अपनी ऊचाई और सभावनाओ की जाच का इससे अच्छा तरीका और क्या हो सकता था। इसके अलावा मैंने ससार की श्रेष्ठ बीस फिल्म भी वर्कशाप के दौरान दिखाइ। आखिर लेखको की सवेदनशीलता मे उससे नयी धार पैदा हुई या नही। चूकि हम अपने इरादो के बारे मे कोई कन्फ्यूजन नही था और सगोष्ठियो का औपचारिक फाड' हम नही करना चाहते थे, इसलिए इतनी गहरी मारकाट के बावजूद लोगो ने एक दूसरे को ज्यादा समझा। महेश का 'गार्बो', 'वासना काड', गोविन्द का 'उध्वस्त धर्मशाला', सतीश आलेकर का मिकी माउस', सुहास तावे का 'बीज', दिलीप खाडेकर का ग्रेज्युएट' अच्युत वझे का 'चल रे भोपळा' और तुम्हारा 'एक और द्रोणाचार्य' उसी वर्कशाप के अग्निदाह से गुजरे या नही। और ये सभी नाटक पिछले पाच वर्षों के बहुचर्चित नाटको मे से रहे। नये नाटककार की सार्थक तलाश का यह एक अच्छा तरीका साबित हुआ।

दुबे, तुम पर एक आरोप है कि तुम नाटक प्रोड्यूस नहीं करते सीधे दर्शकों पर नाटक फेंक देते हो।

शायद तुम पल पदमसी की बात दुहरा रहे हो। मैं नाटक प्रोड्यूस तो करता ही हू पर उस दशको पर फेंकता भी हू। जब फेंकता हू तो नाटक उन पर मार करता है क्योंकि उन्हें झकझोरता है उन्हें शायद एक साक्षात्कार की स्थिति में लाता है। पूरा नाटक उनके अनुभवों में एक नया अनुभव जोडता है। अगर नाटक दशको की भी भीतरी जडताओं को तोडकर नये अनुभव के साथ उन्हें जोडता नही तो ऐसा नाटक मनोरजन से आगे कुछ बन ही नही सकता।

अब फिर से तलाशवाली बात पर लौटें लगभग चालीस प्रस्तुतियां करने की प्रक्रिया से गुजरते हुए इस बारे मे क्या अनुभव हुए?

मैं थियेटर मे प्रभविष्णुता के तत्त्वों पर फिर से खोज की लगातार कोशिश करता रहा। इन चालीस प्रस्तुतियों में दशक बराबर किसी स्तर पर प्रतिक्रिया करते रहे। लेकिन मेरी निगाह तो हमेशा ऊपर और अधिक ऊपर की ओर रहती है। मेरा मतलब भव्य चमत्कृत करने वाले सेटों और प्रकाश योजना से दशको को चकाचौंध करना नही है। लेकिन यह तो तुम भी जानते हो कि थियेटर का मुहावरा बदलता रहता है। मुझे अपना असतोष और निरतर तलाश की मेरी आदत थियेटर में शरीर और चाक्षुष तत्त्वो जैसे अन्य तरीकों की खोज पर विवश करती रही है। कुल मिलाकर एक सृजनात्मक भाषा के उस व्याकरण की खोज है, एक व्यक्ति-व्याकरण की खोज है और सतही अर्थ के उस पार शब्दों की ताल, टोन लय और सार्थकता जो हमारे अनपहचाने सबधो को एक धरातल पर जगाए। शब्द नाटक में क्या भूमिका अदा करता है इसके व्याकरण की थोडी-बहुत पहचान तो हो गई है लेकिन मैं जानना चाहता था कि सिनेमा में उसकी क्या स्थिति होगी वह कैसे कारगर होगा। मेरा इरादा इस बात को लेकर कभी थीसिस लिखने का नही रहा। लेकिन इसके आधार पर मैं अपने भविष्य के काम को ज्यादा सार्थक बनाना चाहता हू और इसी ने मुझे सिनेमा और नाटक के बीच एक सश्लेषण की स्थिति की ओर बढाया है।

भारत मे अग्रेजीभाषी थियेटर पर तुम्हारा रवैया बहुत आक्रामक रहा है—क्या अब भी बना हुआ है?

रवये में तो कोई बुनियादी फर्क नहीं आया है, लेकिन पहले जैसा क्रोध नही

रहा। उसकी जरूरत भी नहीं है। उसके प्रति उदासीन हो जाना क्या काफी नहीं ? अंग्रेजीभाषी समुदाय तो अब पुराने डायनासोरों की तरह आउटडेटेड हो गया है। अंग्रेजी व्यापार, कानून और जानकारी के आदान प्रदान की भाषा के रूप में तो भारत में अभी कुछ काल रहेगी लेकिन सृजनात्मक माध्यम की शक्ति के रूप में भारत में यह भाषा अपना अर्थ बहुत पहले खो चुकी है और उसके फिर से जीने की कोई उम्मीद भी नहीं। इसलिए फैशन के तौर पर कुछ एंग्लीसाइज्ड भारतीयों के तथाकथित अहं की तुष्टि भले हो जाए पर इससे आगे उसकी कोई अहमियत नहीं।

तुमने कहा कि तुमने चालीस प्रस्तुतियाँ कीं सभी तो एक जैसी नहीं रही होंगी।

हो भी कैसे सकती हैं ? कुछ फ्लाप भी थीं—लेकिन अनेक प्रस्तुतियाँ अच्छी भी रहीं। 'हयवदन' को मैं अपनी सर्वश्रेष्ठ प्रस्तुति मानता हूं। इस नाटक में मैंने मंचसज्जा के रूप में केवल एक कुर्सी से काम चलाया। यहां तक कि प्रकाश-योजना का भी कोई चमत्कार नहीं। मेरा पूरा ध्यान नाटक के उस भीतरी तत्त्व को बाहर लाना था जो अपने आप में शक्तिशाली है। मैं नाटक के भीतर जो कुछ होता है उसे ही सामने लाना चाहता हूं। बाहरी बैसाखियों की जरूरत कभी महसूस नहीं हुई। मुझे समारोहिकता में कहीं नाटक के भीतरी तनावों के खो जाने का खतरा हमेशा नजर आता है। एक्टर की आवाज, नाटक की भाषा और और अभिनय अपने आप में इतने सशक्त उपकरण हैं कि और बाहरी चीजों की जरूरत ही महसूस नहीं होती। 'अनुष्ठान' में और तुम्हारे 'अरे ! मायावी सरोवर' में तो वह कुर्सी भी हटा दी है मैंने। 'अनुष्ठान' में तो बहुत सी लाइटों का इस्तेमाल किया लेकिन 'अरे ! मायावी सरोवर' में तो केवल सादी लाइटिंग काफी होती है। 'अच्छा एक बार और' में भी सेट कहां है ? जहां तक अनुष्ठान' का सवाल है उसे बंबई की नाट्य प्रस्तुतियों में मील का पत्थर माना जाता है, हालांकि उसके ज्यादा प्रयोग नहीं हुए। 'अनुष्ठान' की प्रस्तुति में मैं ग्रोतोवस्की की ओर बढ़ रहा था। अनुष्ठान की सकल्पना में कहीं माया ग्राहम का भी मुझ पर प्रभाव था। अनुष्ठान तत्वतः एक थियेटर विजुअल है। मैंने ऐसा थियेटर पेश करने की कोशिश की, जिसे जरूरी नहीं कि हर कोई समझे, पर हरएक ने उसका गहरा प्रभाव महसूस किया। जहां बहुत जरूरी था वहां मैंने सेट जरूर इस्तेमाल किया है लेकिन वह 'फंक्शनल सेट' से कहीं आगे नहीं था।

आपके इसी बयान के साथ एक बुनियादी सवाल पैदा होता है—

और वह है रगमच के अथशास्त्र का। सेट का इस्तेमाल न करने मे कहीं आर्थिक सीमाए तो काम नहीं कर रही थीं ?

जरूर करती हैं। मैं नेशनल सेंटर और सगीत क्लाकद्र के सामने हाथ जाडकर सुविधाए मागने म अपना वक्त जाया नही करना चाहता। अगर उन्हे गरज हो तो सुविधाए दें। मेरी समस्या है कि मैं अपनी सामथ्य-सीमा म ही अच्छा स अच्छा थियेटर कर सकता हू या नही। भव्य सट्स, बहुत अधिक लाइटिंग वगैरा किसी भी थियटर की पूवशत नही बननी चाहिए जो जैसा भी उपलब्ध है उसी म साथक रगकम हो सकता है। जसे हमेशा आदश पुरुष की खाज करने वाली लडकिया धीरे धीरे प्रौढा हो जाती है उसी प्रकार हमेशा आदश सुविधाओ की मांग करने वाले रगकर्मी अक्सर बात ही करते रह जाते हैं। आखिर हम थियटर तो इसी दश मे करना है। यहाँ के लोगो के लिए यहीं की आर्थिक सीमाओ म करना है, इसलिए जो उपलब्ध है उसी का साथक उपयोग होना चाहिए। हयवदन' और तुम्हारा 'मायावी सरोवर' और 'अच्छा एक बार और', 'सभोग स सयास तक आखिर सट और लाइटिंग की मागो स मुक्त होने के कारण कितने मोबाइल हो गए है। उन्हे हम कहीं भी बिना खिट-खिट के ले जा सक्ते है। रेग्युलटर आडिटोरियम म भी कर सक्ते है और खुले मच पर छोटी आडियेंस म कर सक्ते हैं, बडी ऑडियेंस के लिए कर सक्ते हैं। थियटर के अथशास्त्र को भुलाकर थियेटर करने का अथ कही दूसरो की दया पर जीने का भी हो जाता है। मैंने कम से कम अपने आप को इससे मुक्त रखा है।

आप पर एक दूसरा जबरदस्त आरोप है—और वह है नाटको मे फिल्मी गाने डालने का। यह आपका विश्वास है या विवशता ?

मैं तब स सोच रहा था कि इस बात पर आने म इतनी देर क्या हो रही है तुम्हे। फिल्मी गानो का इस्तेमाल किया है मैंने— अच्छा एक बार और' मे तो अग्रेजी गाने का उपयोग किया है। लेकिन यह आरोप सभी नाटको के बारे मे सही नही है। हयवदन' म मैंने लाइव म्यूजिक और टेप दानो का इस्तेमाल किया है। शकर, 'मायावी सरोवर' म और 'सभोग से सयास तक' इन दो नाटको म फिल्मी गाने डाले हैं मैंने। ऐसा करते समय दो बातें मेरे सामने रही हैं—एक तो कारसदल तैयार करने म खच बहुत आता है। मान लो, टेप्ड म्यूजिक भी इस्तेमाल किया जाए तो भी प्रॉडक्शन कास्ट बढ़ती है। अगर गायको की आवाजें ठीक न हुई तो भी कठिनाई उपस्थित होती है। पाच-दस म्यूजिशियन और गायक बढ गए तो नाटक दूसरे स्थानो पर ले जाने मे भी कठिनाई होती है। यानी खच का सवाल फिर आता है। दूसरी बात यह है

कि आज सिनेमा के गाने कहा न वही आम आदमी की जिंदगी का हिस्सा बन गए है। एक अथ म तो कुछ गाने हमारे नागर जीवन के लोकगीत बन गए हैं। सवाल ये नही है कि मैं उनका उपयोग क्या करता हू, सवाल यह है कि मैं उनका कैसा उपयोग करता हू। मैं पहले ही कह चुका हू कि किसी भी कला माध्यम की परम शुद्धता म मेरा विश्वास नही रहा है। मेरा उद्देश्य एक ऊचे धरातल पर दशको के रेस्पास को मनिपुलेट करना होता है। और मरा ख्याल है कि सिनेमा के गाने इस्तेमाल करके भी मैं अपना उद्देश्य हासिल कर लेता हू। एक बात छोटे छोटे स्थानो म अगर नाटक होना है—और म्यूजिक डिमाड हो तो सिनेमा सगीत स एक दिक्कत और आसान होगी। 'मायावी सरोवर' मे मैंने सिनेमा के गानो का जिस तरह साथक प्रयोग किया है, उससे तो तुम परिचित हो ही। क्या प्रभाव म कोई कमी हुई है क्या ?

अथशास्त्र की बात से जुडी हुई एक बात और बबई का छबील-दास रग-आदोलन।

शौकिया रगमच के लिए तो छबीलदास हाई स्कूल के रग-आदोलन ने तो जैस एक राजमाग ही खोल दिया है। मराठी और हिंदी की परिस्थितियो म थोडा अतर होने के बावजूद यह रग आदोलन दोना के लिए एक वरदान बन गया है। मराठी मे साथक (रेलेवेंट) रगमच और व्यावसायिक रगमच—ये तो समानातर स्थितिया है। दोना मे अगर सीधा मुकाबला न भी हो तो भी कही मूल्या को लेकर तो भेद है ही। व्यावसायिक रगमच मध्य वग की भावुकता और सतहीपन का जहा शोषण कर तथाकथित नाटक आर्थिक उद्देश्या की पूर्ति के लिए करता है, वहा साथक रगकम के मूल्यो म जीने वाले रगकर्मी भी हैं जो समझौता नही कर सकते। लेकिन समझौता न करने से जल्दी टूट जाने का भी तो खतरा रहता है। कोई भी लडाई अपने अस्तित्व और अस्मिता दोना को बनाए रखकर ही की जा सकती है। छबीलदास हाई स्कूल का कास्ट ऑव प्रोडक्शन कितना कम है। तेजपाल म जब हम लोगा ने नाटको का मचन किया था तो हर बार इतना अधिक घाटा आता था कि नाटक को जीवित रखना कठिन हो जाता था। लेकिन अब छबीलदास मे वही घाटा प्रस्तुतियो मे बट जाता है। नाटक अधिक काल तक जीवित रहता है। छबीलदास आदोलन ने शौकिया रगमच के अथशास्त्र को अच्छी तरह पहचाना है और इसीलिए आज मराठी की २० नाटय सस्थाए जीवित रखकर अपनी ईमानदार कलाभिव्यक्ति कर सक रही है। दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि छबीलदास रग आदोलन नाटय अथशास्त्र की समझ के साथ ही साथक रग आदोलन का पर्याय बन गया है। गैरव्यावसायिक गभीर रगकम का दूसरा नाम छबीलदास रग आदोलन

है। पिछले चार वर्षों में बंबई की विभिन्न नाट्य संस्थाओं ने लगभग २५ नये नाटक इस मंच पर पिछले तीन वर्षों में लाए हैं जिनमें वे सभी महत्त्वपूर्ण नाटक हैं जो विगत पांच वर्षों में लिखे गए। मेरे अलावा अरविंद देशपांडे, सुलभा देशपांडे, अमोल पालेकर, दिलीप कुलकर्णी, जयदेव हट्टंगडी डा० लागू दिलीप कोल्हटकर अच्युत देशिंकर, अच्युत वझे, रेखा सबनिस, अमरीश पुरी आदि निर्देशकों ने अपनी प्रस्तुतियां यहीं की हैं। पिछले तीन वर्षों में लगभग ५०० प्रस्तुतियां छबीलदास में हुई हैं इससे ही अनुभव किया जा सकता है कि इस रंग-आंदोलन का कितना गहरा प्रभाव पड़ा है। आज बंबई में गंभीर रंग-कर्म का अर्थ ही छबीलदास रंग आंदोलन का नाटक होता है। छबीलदास रंग आंदोलन ने एक बात साबित कर दी है कि अगर शौकिया रंगकर्मियों में सार्थक थियेटर करने की उत्कट इच्छा है आग्रह है तो हर छोटे शहर में थियेटर हो सकता है। छबीलदास रंग-आंदोलन ने यह दिखा दिया है कि साधनों के नाम पर रोते रहना कहीं थियेटर की सच्ची भूख के अभाव को दर्शाता है। फिर हिंदी में तो जो कुछ हो रहा है वह शौकिया रंगमंच ही है। मेरी जानकारी में उस ढंग का व्यावसायिक रंगमंच हिंदी में नहीं है जिस तरह का बंगला मराठी और गुजराती में है। इसलिए हिंदी रंगमंच को व्यावसायिकता का विरोध या स्पर्धा खेलने का भी सवाल नहीं है। छबीलदास जैसे प्रयत्न ही साहसिक और सार्थक प्रयोगों के लिए प्रयोगशाला का काम कर सकते हैं। महानगरों से बाहर नाट्यकर्म को ले जाने और उसे अपना स्थानीय व्यक्तित्व देने की दृष्टि से भी यह प्रयोग महत्त्वपूर्ण है। तुमने स्वयं अनुभव किया होगा कि अच्छा लिखने के लिए अच्छा पढ़ने के अलावा अच्छा और नया थियेटर देखना कितना जरूरी है। जब तक छोटे नगरों तक छबीलदास जैसा आंदोलन नहीं पहुंचेगा छोटे स्थानों की सृजन प्रतिभाओं को गति मिलना कठिन है।

> हिंदी में नाटक हालांकि महानगरों और बड़े शहरों में ही हो रहे हैं, पर अब हो रहे हैं। रंगकर्म की एक चेतना आई है—पर अक्सर यह देखा जाता है कि नया नाटक दो-चार प्रस्तुतियों के बाद बंद हो जाता है—आखिर बात क्या है?

मैं इसे एक बहुत बड़ी ट्रैजेडी मानता हूं। एक नाटक तैयार करने में जो मानवीय साधन और खर्च होते हैं उन्हें देखते हुए अगर एक ही दो प्रस्तुतियों के बाद नाटक बंद हो जाता है तो स्थिति बड़ी दुखदायी होती है। इसका असर वहीं रंगकर्मियों के मनोबल पर भी होता है। किसी नाटक का मंचन कर देना ही काफी नहीं होता। उसे जीवित रखना भी उतना ही जरूरी है। मैंने हमेशा इसी बात की कोशिश की है। 'आधे अधूरे' पहली बार हमने १९६९ में

किया था लेकिन आज भी हम लोग उसके प्रयोग कर रहे हैं। उसी प्रकार 'हयवदन' १९७१ से बराबर चल रहा है। १९७२ से 'सारी रात' का मचीकरण होता ही जा रहा है। एक ओर जहा नय नाटको का प्रस्तुतीकरण जरूरी है, वहा सस्था के अपने पुराने नाटको को बनाए रखना भी जरूरी है, तभी वह नाटक पूरे रगजीवन का हिस्सा बन सकता है।

एक निर्देशक के रूप मे और एक सृजनशील शक्ति के रूप मे युवा रगकर्मियो पर आपका क्या प्रभाव पडा है? उन्हें आप कैसे आकृष्ट करते हैं?

देखो शकर, मुझे युवा लोगो पर बडा क्रोध आता है, लेकिन उन्ह मैं समझाता हू। उनके बिना मेरा काम नही चल सकता। उनकी अपनी मूर्खताओ के बावजूद व समाज की सबसे प्यारी वस्तुए हैं और व ही मेरे जीवन को ज्यादा सार्थक बनाते हैं। अगर मैं अपने नजरिये का एक प्रतिशत भी उनमे उतार सकू तो अकेले पूरा नाटक करने से मुझे इसमे ज्यादा सतोष का अनुभव होता है। जिन युवा लोगो को मैं जानता हू उनसे मुझे एक ही शिकायत है कि वे थोडे आलसी और बहुत श्रद्धालु हैं। यह सुस्ती और अति आदर भाव मिल कर एक कृत्रिम दूरी बनाते है और तुम तो जानते हो कि मेरे लिए ये महत्त्व-पूर्ण है कि मैं थियेटर मे, आडिटोरियम मे हमेशा लोगो के साथ रहू। मै उस शक्ति और ऊर्जा की बात कहता हू। इतना होने के बाद भी मैं युवा लोगो से जुडता हू वे मुझसे जुडते हैं। आजकल मुझे एक बात पर गुस्सा आता है—आजकल मैं देखता हू कि युवा अग्रेजी मे ही बोलता है—उस अग्रेजी से भग वान बचाए। लेकिन वे ही शब्द, वही वाक्य, वही उक्तिया और सूक्तिया वही मुहावरे। लगता है सब एक जैसा ही बोल रहे हैं। वे खुद नही जानते कि वे क्या बोल रहे है। इपार्टेंड शब्दो को बिना निजी अर्थ के इस्तेमाल से बेहद खीझ होती है मुझे।

'प्रतिबद्ध रगकर्म' या कमिटेड थियेटर—क्या इस प्रश्न का उत्तर नहीं है?

कमिटमेट मेरा अपना देश है और निजी तौर पर बबई से मैं इस क्षेत्र की सच्चाइयो के प्रति प्रतिबद्ध हू। मैं दूर दराज के गावो तक नही पहुच सकता। बबई ही मेरा कर्मक्षेत्र है। सौभाग्य से मैं मराठी रगमच से जुडा हू। मैंने उसकी प्राणवत्ता का जो साक्षात्कार किया, उसे जीवित रखने के लिए लडते रहना और काम करते रहना, यही मेरा कमिटमेट है प्रतिबद्धता है। मराठी, हिंदी और गुजराती—क्या इतनी प्रतिबद्धता काफी नही है? क्या तुम इससे

सहमत नही हो कि बबई के इस तीन भाषायी थियेटर मे कही 'रेनासा' हो रहा है ? अपवादो को छोड़कर सभवत ससार के किसी हिस्से मे इतना थियटर नही हो रहा है।

दिग्दशक के सृजनशील व्यक्तित्व के अलावा अब नाटककार के रूप मे 'सभोग से सयास' वाला से आपका नया पहलू सामने आया है —उसके बारे मे आपका क्या ख्याल है ?

तुम भी देख चुके हो। हिंदी मे इप्टा' ने इसके कई प्रयाग किये, और साथ ही मराठी म अमोल के 'अनिकेत' ने इसका मचन किया। नाटक मैंने लिखा और दशको को सौप दिया। मेरे विचारो का अब उतना महत्त्व नही—पर मेरा ख्याल है कि 'सेक्स पर इतना अबोध और रजक नाटक अब तक नही लिखा गया था। अगर फास की दष्टि मे भी देखें तो इसे मैं एक सफल पौराणिक फास कहूगा।

फिल्म क्षेत्र मे आपका काम और अनुभव ?

साठोत्तरी के पहले चरण म मैंने 'अपरिचय के विंध्याचल (१९६२) और 'टग इन चीक' (१९६८) दो शाट फिल्म बनाइ और उनका अच्छा स्वागत भी हुआ। १९७० ७१ मे मैंने तेंडुलकर के नाटक 'शातता कोट चालू आहे' पर इसी नाम स फीचर फिल्म मराठी मे बनाई। फिल्म की अच्छी चर्चा भी हुई। उसे महाराष्ट्र सरकार का पुरस्कार भी मिला। साथ ही वेनिस के फिल्म फेस्टिवल मे उसे क्रिटिक अवाड भी मिला।

दुबे, 'अपरिचय के विंध्याचल' मे जहा हमारे अपने आसपास के प्रति सवेदनात्मक मामले मे जडता और जीवन की प्राणवत्ता के सूखते हुए सोते की तकलीफ का तुमने बहुत ही प्रभावशाली ढग से अकन किया है, उसी प्रकार 'टग इन चीक' मे महानगर मे आकर अपनी अस्मिता को बरकरार रखने की कोशिश करने वाले एक कस्बाई युवक के मानसिक सघष का जहा क्रमश आपने सफल ढग से फिल्म मे उतारा है वहीं आप पर यह आरोप भी है कि ट्रीटमेंट के धरातल पर आप कहीं अपने थियेटर के सस्कारो से मुक्त नहीं हो पाते। 'शातता' मे भी कहीं यही हुआ है, हालाकि फिल्म और थियेटर दो अलग-अलग कला माध्यम हैं। दोनो की भाषा अलग ह।

अपने थियेटर के सस्कारो से मैं क्या मुक्त होना चाहूगा ? मैं हमेशा यह महसूस

करता हू कि थियेटर म भी तो सिनेमा की तरह विजुलाइजेशन की गुजाइश है और सिनेमा म भी नाटक की तनाव भरी स्थितियो की नाटयभाषा का सही इस्तेमाल करक उभारा जा सकता है। क्या दोनो की शक्तियो को एकत्र कर यही प्रभाव को सघन नही बनाया जा सकता ? इस सश्लेषण की चुनौती हमेशा मेरे सामने रही है और उसे आदश रूप म प्रस्तुत करने की छटपटाहट भी मेरी सजनशीलता की एक माग है। कोशिश जारी है—सफलता सभवत एक नयी दिशा सधान का पयाय बन जाए।

आपने पिछले तीन-चार वर्षों मे फिल्मो के लिए सवाद भी लिखे हैं—इस बारे मे आपका अनुभव ?

मैंने पिछले तीन चार वर्षों म छह फिल्मो के सवाद लिखे हैं, कुछ की पटकथा भी लिखी है। इनम स तीन फिल्म तो श्याम बेनेगल की हैं—'निशात', अकुर' और नयी फिल्म भूमिका'। भूमिका बनकर तयार हो गई है। आजकल श्याम बेनेगल की बन रही फिल्म काडूरा' के हिंदी सवाद लिख रहा हू। दूसरी फिल्म है वरदान', 'मजिलें और भी हैं' और विश्वासघात'। 'निशात' और 'अकुर' मे हैदराबादी हिंदी का प्रयोग मैंने किया है और उसस फिल्म के स्थानीय परिवेश को उजागर करने म मदद मिली है। इन फिल्मो म तुमने अनुभव किया होगा कि कही भी नाटकीयता नही है। लेकिन शब्दो क चुनाव और उनकी सख्या पर काम करके मैंने इन सवादो म वह तनाव पैदा करने की कोशिश की है जो कि बाहरी और भीतरी दुनिया का पूरा एहसास कराता है। 'मजिलें और भी हैं' मे भी मैंने एक नया मुहावरा लाने की कोशिश की है।

दुबे, प्रस्तुतिया तो आपने ३० से ऊपर कीं। लेकिन अपने पूरे थियेटर करियर मे आपकी दृष्टि से सबसे सफल या अविस्मरणीय प्रस्तुतिया कौन-सी रहीं ?

वसे मैंने किसी भी नाटक को कामचलाऊ ढग से कभी प्रस्तुत नही किया। किंतु इसके बाद भी अनुष्ठान, 'हयवदन' के अलावा जिन नाटको ने दशको के मन पर गहरा प्रभाव पदा किया और मुझे भी सजनात्मक स्तर पर चुनौतियो का सामना करने का सुख दिया उनम से उल्लेखनीय हैं— प्रेत', सुनो जनमेजय', 'बद दरवाजे', 'एव इन्द्रजित', 'पगला घोडा', 'ययाति', 'गार्बो' और बेबी'। वैसे तुम्हारे नाटक अरे ! मायावी सरोवर' ने भी मुझे कम परेशान नही किया।

अब आखिरी सवाल। आपने अनेक नाटक स्वय प्रस्तुत किये। अनेक कलाकारो को रग-आदोलन का हिस्सा बनाया। लेकिन दिग्दशक के स्तर पर आपने दूसरो को स्वतत्र जिम्मेवारी कितनी सौंपी ?

पुरी और सुलभा देशपाडे ने थियटर यूनिट के स्वतत्र रूप से नाटक निर्देशित नही किये हैं क्या ? मैं दावे से कह सकता हू कि पुरी जी का 'सारी रात' और सुलभा के 'चुप कोट चालू है तथा 'सखाराम वाइडर' श्रेष्ठ प्रस्तुतिया है इन प्रस्तुतियो पर थियेटर यूनिट को गव है।

भारतीय रंगमंच की खोज

ब० व० कारन्त से जया मेहता की बातचीत
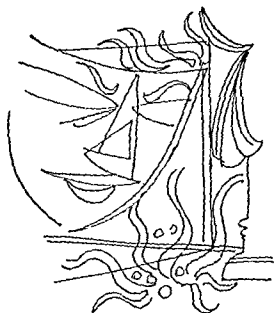
ब० व० कारत हिंदी और कन्नड दोनो भाषाओ के शीर्ष स्थानीय रगकर्मी है। भारत के श्रेष्ठ फिल्म निर्देशको म स एक। आपके द्वारा निर्देशित फिल्म 'चोमनादुडी' को १९७५ ७६ का राष्ट्रीय स्वण कमल पुरस्कार मिला है। लगभग सभी चर्चित और महत्त्व के नाटको का कन्नड, हिंदी, पजाबी और गुजराती मे निर्देशन तथा भारत के मुख्य शहरो मे नाट्य शिविर सचालन और नाट्य निर्देशन किया। सस्कृत और कन्नड से हिंदी म महत्वपूण नाटको के अनुवाद भी चर्चित हुए हैं। कर्नाटक की प्रमुख लोकशैली 'यक्षगान' म अनेक प्रयोगो के लिए निरतर सक्रिय हैं। आपने जमनी, हगरी यूगोस्लाविया, बुल गारिया पोलड चकोस्लोवाकिया, अमेरिका, सोवियत सघ और इग्लड की सास्कृतिक यात्राए की है। फिलहाल मध्यप्रदेश भोपाल रगमडल के निर्देशक के रूप म कायरत हैं।

●

आशा मेहता आप जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली म कवि आलो-चक श्री केदारनाथ सिंह के निर्देशन म हिंदी विषय म एम० फिल० कर रही है। फिलहाल फ्रेंच एयर लाइन्स म नौकरी।

आधुनिक भारतीय कला के सभी रूपो ने, जिसमे रगमच भी शामिल है, पश्चिम से प्रभाव ग्रहण किया है। इस सबध मे आपके क्या विचार हैं ?

इसम कोई सदेह नही कि भारतीय रगमच की बात जब भी हम करते है ता वह पश्चिमी रगमच के सदम म ही होती है। क्याकि रगमच का बोध ही बहुत कुछ हमको पश्चिमी रगमच स हुआ है। मुझे ऐसा लगता है कि अठारहवी शताब्दी म यह भारतीय' विशेषण लगातार किसी की रगमच की कल्पना तक म नही होगा। यह दृष्टि जो आई होगी, बहुत कुछ पश्चिमी शिक्षा के प्रभाव से आई होगी और खासकर सैद्धातिक नही है, वह व्यावहारिक है। और जसे ही व्यवहार की बात यह बन गई तो बहुत ही भौडे ढग से हमने जिसकी नकल की वो पारसी रगमच था, क्याकि तभी हमको पता लगा कि हमारे यहा भी रगमच है। जो भी हो, मैं इसके पीछे कहू, एक बहुत गहरी दष्टि नही थी, सिफ अपने आपको पहचानने की एक ख्वाहिश थी। साहित्य के द्वारा तो हम यह काम करते थे, किंतु उस वक्त शक्तिशाली माध्यम तो धम' ही था, और कला माध्यम नही था। सगीत, नत्य बहुत पिछडे हुए माध्यम माने जाते थे और रगमच के द्वारा ही हमे यह लगा कि हम पश्चिमी रगमच का अनुकरण करें। और उस वक्त भी कोई स्पष्ट अभिमत हमारे यहा नही था। जो भी रहा होगा, यह उसके बाद की ही प्रतिक्रिया है।

मैं आपसे सिफ प्रभाव की बात कर रही हू। प्रभाव से मेरा तात्पय यह है कि हमारे यहा पहले कोई न कोई दृष्टि अवश्य रही होगी जो पश्चिमी रगमच से प्रभावित हुई और पश्चिमी रगमच की विविधता ने भारतीय रगमच की उस एकरूपता को प्रभावित किया।

पहली बात तो यह है कि आज भी पढे लिखे लोगो के सामने रगमच की बात शुरू करते ही पारसी थियेटर की चर्चा उठ खडी होती है, जबकि वास्तविकता यह है कि हमारे यहा पारसी थियेटर वाला फॉम था ही नही। पारसी थियेटर मतलब उस फ्रेम वाला रगमच जहा सिफ एक तरफ देखते हैं लोग, सामने बैठे रहते है और हमारी पूरी ट्रेडीशन जो रही उसम तीना ओर लोग देखते है। दशक के साथ आत्मीय सबध जो था उसे पश्चिमी रगमच ने बिल्कुल खत्म कर दिया। अग्रेजी की वजह से जो रगमच हमको मिला वो थियेटर हाल था, जिसमे बहुत अच्छी अच्छी कुर्सिया रखी जाती थी। जस ही पर्दा बन गया अभिनेता और दशक का सबध टूट गया। अभिनेता धीरे-धीर पर्दे के पीछे चला गया और दशक बाहर रह गया। हमारा पारपरिक रगमच जो था उसमे हम कथाए लेते थे रामायण की, महाभारत की, बेताल की। उसम अभिनेता दशको के बीच म ही घूमता रहता था। आज भी हम चाहे नौटकी लें, तमाशा लें उसमे अभिनेता या उसके पात्र जो है हो सकता है वे देवी पात्र हा, अतिमानवीय पात्र हा, परतु वे देवी तथा अतिमानवीय पात्र, दशको के बीच मे ही घूमते रहते है। अब वह सबध टूट गया है और हम भी भूल गए ह। आपने जो दष्टि और प्रभाव की बात कही, तो वह उस रूप मे नही है। मुझे लगता है कि शुरु म जो भी हमने लिया वह यह मानकर कि उनके पास है इसलिए हमारे पास भी होना चाहिए, हमारे पास था' यह सोचकर नही। जहा तक मुझे याद है आई० सी० एस० के लोगो ने यह किवदती बनाकर रखी थी कि याद रखना ही बहुत बडी जीनियसनेस है प्रतिभा है।' आज वही हमारे पास नही है। इसलिए रगमच के बारे म स्पष्ट रूप से कह सकता हू कि मुझे स्पष्ट रूप से लग रहा है कि हमारे भारतीय रगमच को पहचानने की बात या पश्चिमी रगमच बहुत अच्छी चीज है अथवा इसी तरह की अय जिज्ञासाए प्रतिक्रिया के रूप म हैं, न कि अपनी एक मौलिक दृष्टि के रूप म।

> इस प्रतिक्रिया ने कहा तक रचनात्मक योगदान दिया यह महत्वपूण बात है और सबसे अधिक यह कि भारत के साथ साथ पश्चिम का भी कोई परपरागत थियेटर रहा होगा और उसने कहा तक किस रूप मे भारतीय रगमच को प्रभावित किया—यह मैं आप से जानना चाहूगी।

उत्तर दने से पहले मैं यह स्पष्ट करना चाहूगा कि पश्चिमी रगमच की परपरा १५वा १६वी शताब्दी स प्रारभ होती है और सिलसिलेवार चलती है। लेकिन भारतीय रगमच का सिलसिला टूट गया था या था ही नही शायद।

लगता है कि पश्चिमी रगमच का अगर अनुभव न होता तो हम उसी तरह लग रहते। इसीलिए जब दृष्टिकोण की बात आती है तो हम यह मानकर चलना होगा कि रगमच के सभी आदोलन कॉलेज या यूनिवर्सिटी से शुरू हुए ह। मतलब कामनमन स उन आदोलना का कोई सबध नही था। कॉलेज या यूनिवर्सिटी से इसलिए क्योकि वे अग्रेजी शिक्षा के केन्द्र थे और अग्रेजी शिक्षण की कल्पना तक बिना शेक्सपियर के नही की जा सकती। अग्रेजी भाषा और साहित्य पर अधिकार प्राप्त करने के लिए शेक्सपियर एक जरूरी व्यक्तित्व था —जरूरी तमगा था। और अग्रेजी रगमच का वह एक महान व्यक्तित्व था ही। तो जब उन सब भारतीय लोगो ने रगमच की बात सोची तो उनके सामने शेक्सपियर का ही आदश रहा, 'शेक्सपियरवाला' एक फिल्म भी बनी। उस जमाने म शेक्सपियर के नाटका के सिवाय कोई नाटक होते ही नही थे। अगर हमने बहुत इमोशनल और सेंटीमेंटल होकर सोचा भी तो कालिदास को भारतीय शेक्सपियर बना दिया। इससे हमारी वैचारिक दरिद्रता का किसी सीमा तक अदाज लगाया जा सकता है। कालिदास को शेक्सपियर कहने की भला क्या जरूरत थी। इसका मतलब यह हुआ कालिदास के बारे मे हम कुछ भी मालूम नही था। और और जब मालूम हुआ तो वह भी एक जमन विद्वान से। उसी सीमित जानकारी के चलते हम लगा कि शेक्सपियर के समक्ष रख कर ही हम कालिदास को महत्ता दे सकते हैं। बडप्पन का अहसास कर सकते हैं। तो बुनियादी तौर पर हम एक तरह की मानसिक दरिद्रता के शिकार रहे हैं। यही कारण है कि पश्चिमी रगमच का जो भी प्रभाव हमारे रगमच पर पडा वह विवेक पर आधारित नही था, बल्कि नकलवाद स प्रेरित था।

लेकिन आजकल—मौजूदा रगमच काफी हद तक विकसित हो चुका है। और जो प्रभाव ग्रहण किये जाते हैं, मेरा खयाल है, काफी सोच-समझकर ग्रहण किये होगे। तो उस प्रभाव मे, जो बिल्कुल शुरू मे ग्रहण किया गया और आज ग्रहण किये जाने वाले प्रभावों मे आप फर्क पाते हैं?

यह बहुत सही बात है कि अभी जो आलोचना मैंने की, आज उसस बहुत भिन्न स्थिति है। लेकिन यह बात आज भी मैं बहिचक कह सकता हू कि अभी तक भी हिंदुस्तान म अभिनय की एक अपनी शैली नही विकसित की जा सकी। निर्देशन की भी नही। जब मैं शैली की बात करता तो उस एक 'टम' के रूप म लेने का मेरा आग्रह होता है। याने स्कूल। तो मरा मतलब यह है कि हमारे रगमच का अभी तक अपना कोई स्कूल नहा विकसित हो पाया। बल्कि रगमच के अभिनय निर्देशन का आज तक कोई स्कूल नहा बन पाया। सच्चाई

यह है कि नाटक की हालत साहित्य से इस माने मे बिल्कुल भिन्न है कि एक हिंदी लेखक जब कोई रचना लेकर साहित्य के मैदान म आता है तो उस सूर, तुलसी, निराला जैसे महान व्यक्तियो का सामना करना पडता है। लेकिन हम नाटक के लोग आज भी विदेशी रगमच, विदेशी रग-आदोलनो स इतने प्रभावित हैं कि उन्हे ही मानदड मानकर सारा विश्लेषण करते है। कभी ब्रेश्ट कभी दॉस्तोव्स्की तो कभी कोई और। आज भी हम उस तरह से सपन्न नही है।

एक नतक आज भी छह छह घटे अभ्यास करता है, चाहे उसे कही शो देना हो या न देना हो। गायक भी इसी तरह रियाज करता है। मगर हमारे रगमच म ? हमारे यहा उस तरह से कोई मुहावरा बना ही नही कि एक अभिनेता को अपनी अभिनय क्षमता विकसित करने के लिए कुछ अभ्यास करते रहना चाहिए। ड्रामा स्कूल होते हुए भी हम उसका सही उपयोग नही कर पाए। इसीलिए हम एक खालीपन महसूस करते हैं। लेकिन इसके बावजूद हम इतने भाग्यशाली है कि हमे हर जगह रिकग्निशन' मिल जाती है। इसी से यह सकेत मिलता है कि पूरा क्षेत्र जो है, वह दरिद्र है। मैं यह कहना चाहता हू कि एक कवि की सवेदनशीलता मुझसे ज्यादा हो सकती है, परतु फिर भी पुरस्कार मुझे मिलता है—फिल्म की वजह से, नाटक की वजह से। क्योकि साहित्य म बडे-बडे धुरधर है न। सूरदास हैं तुलसीदास है लेकिन हमारे तो कोई धुरधर है नही। इसीलिए रिकग्निशन' मिल जाती है। पच्चीस साल पहले के थियेटर को हम भूल गए है। क्या साहित्य मे ऐसा हो सकता था ? चार सौ साल पहले के कबीर और सूरदास याद रहते हैं लेकिन पच्चीस साल पहले के पृथ्वीराज कपूर भुला दिए जाते है, बाल गधव को अनदेखा किया जाता रहता है। सारा का सारा रगमच बहुत रोमाटिक रहा। उसके पीछे कोई भी विचारधारा या तथ्यपरक सच्चा अनुभव रहा ही नही।

ब्रेश्ट का जब जिक्र आ गया है तो एक प्रश्न और। आजकल यह मान्यता है कि ब्रेश्टियन परपरा भारतीय रगमच मे सबसे निर्णायक रही है। इस सबध मे आपके क्या विचार हैं ?

यह अवश्य है कि ब्रेश्ट को पढने के बाद हमको लगा कि हमारे यहा ब्रेश्टियन परपरा है। यानी जसे पश्चिमी प्रभाव था, वैसे ही ब्रेश्ट का प्रभाव है। ब्रेश्ट को देखते ही लगा कि अरे यह गाने तो हमारे पास भी हैं, यह नत्य या डास हमारे पास भी हैं हमारे बहुत नजदीक हैं। हमको एसा लगा कि अपने जैसा एक स्थापित व्यक्तित्व हम मिल गया। लेकिन जिस तरह शेक्सपियर और कालिदास की तुलना हुई उसी तरह हम ब्रेश्ट को लेते हैं। हम अपने पूरे

पारंपरिक नाटक की तुलना ब्रेख्ट के नाटक से करने लगते हैं। लेकिन उसकी जो शक्ति थी, जो विचार थे, जो संघर्ष थे, जिस तरह से उसने परंपरा यथार्थ और अभिव्यंजनावाद का एक समन्वयात्मक रूप अपने नाटकों में प्रस्तुत किया, जिस तरह उसने अपने नाटकों को फासिज्म और नाजिज्म के विरुद्ध एक कारगर हथियार के रूप में ढाला क्या उस तरह की कोई भूमिका या परंपरा है हमारे पीछे ? शायद बिल्कुल ही नहीं। यानी कि फिर हम नकलची साबित हुए। जब ब्रेख्ट के निर्णायक होने की बात कही जाती है तो सिर्फ कुछ पढ़े-लिखे लोगों को ध्यान में रखा जाता है। अन्यथा निर्णायक होने जैसी कोई बात नहीं।

दरअसल प्रभाव को आप बिल्कुल नकारात्मक रूप में ले रहे हैं। क्या आप यह कहना चाहते हैं कि पश्चिम के संपर्क में आने के बाद हमें ऐसा महसूस हुआ कि परंपरा है ? या यह कि परंपरा पहले से थी और बाद में हमने प्रभाव ग्रहण किया ?

शुरू में मैं दृष्टिगत दरिद्रता की ओर संकेत करना चाहता था। हम सच्चे हो तो सकते हैं। मैं भी अपने स्कूल के प्रति गंभीर हूं या कन्नड़ में यक्षगान करता हूं, लेकिन मुझे लगता है कि 'समग्रजातीय दृष्टि' का हमारे पास अभाव है जो कि होनी चाहिए थी। इसी तरह आंदोलन चलना चाहिए था, जो कि नहीं है। प्रभाव के संदर्भ में मेरा कहना यह है कि हम कितने ही सीरियस क्या न रहें लेकिन वह एक झूठा प्रभाव होता है। मैं यह नहीं कह रहा कि मैं एक झूठमूठ का प्रभाव लेकर करना चाहता हूं—उस बारे में मैं सीरियस हूं। मैं एक हिंदुस्तानी रंगमंच की खोज करना चाहता हूं, लेकिन सारा प्रयत्न जैसाकि साहित्य में हुआ, संगीत नृत्य में हुआ वह क्या रंगमंच में है ? नृत्य फिर भी हिंदुस्तानी संगीत है। संगीत ने यदि प्रभाव लिया भी तो मात्र अपनी पहचान बनाने के लिए कि आर्केस्ट्रा होना चाहिए या कोरस होना चाहिए। इसीलिए जब रंगमंच पर प्रभाव की बात मैं करता हूं तो दूसरे जन माध्यमों को मद्देनजर रखकर ही करता हूं।

एक विचार गोष्ठी में आपने कहा था कि 'ब्रेख्टियन तत्त्व हमारी भारतीय परंपरा में बहुत पहले से विद्यमान है—विशेष रूप से यक्षगान में।' इस पर बड़ी तीखी प्रतिक्रिया हुई थी। लोगों ने कहा था, 'आपके मतानुसार तो ऐसा लगता है कि यदि ब्रेख्ट न भी हुए होते तो कोई फर्क न पड़ता।' क्या आपका आशय सचमुच यही था ?

मेरे उस कथन की लोगो पर जब उल्टी प्रतिक्रिया हुई तो मुझे उम्मीद बधी, अपना कोई पक्ष और स्पष्ट रूप से सामने रखने का मौका मिलेगा। हम आपस म विचार विमश करेंगे। लेकिन उत्तेजित होने के सिवाय किसी ने सीरियसली बात ही नही की। मैंने उस समय कहा था कि ब्रेश्ट को हम फशन क तौर पर ले रहे हैं, उसकी विचारधारा स हमे जसे कोई वास्ता नही है, और जहा तक ब्रेश्टियन फैशन की बात है, तो उसस मिलती-जुलती चीज हमार यहा पहले स है। इसका यह अथ कहा स निकलता है कि ब्रेश्ट हमको नही चाहिए? ब्रेश्ट तो बहुत आगे बढ चुका था, उसके पीछे बहुत बडी परपरा थी शेक्सपियर, मेलोड्रामा, रियलिस्ट, सुरियलिस्ट सारे ब्रेश्ट म समाहित हो गए थे। हमारे यहा कोई परपरा है? नही। पद्रह साल पहले हम रियलिस्टिक नाटक किया करते थे, फिर मुड गए एब्सड की ओर, फिर ब्रेश्ट की ओर। इस सबके बीच कोई सिलसिला, कोई शृखला है भला। पच्चीस साल पहल पारसी थिएटर इतना पापुलर था, आज हम उसे मजाक ही नही मानत बल्कि इतने निचले दर्जे से देखते है। और लीजिए—पृथ्वीराज कपूर कितना बडा एक्टर था। आज हम उसका नाम तक नही लेत। यह क्या चीज है? इसका मतलब तो यह हुआ कि हम इतने रोमाटिक थे, इतनी हीराशिप (या उतावली) हमारे बीच म थी कि एक आदोलन की दिशा मे, एक विचारधारा की दिशा मे गभीरता से सोचा ही नही।

> **विचारधारा की बात जब थियेटर के सदभ मे उठती है तो एक प्रश्न उठता है कि इस बारे मे कौन सोचे? क्योकि रगमच एक व्यक्ति से सबधित तो है नहीं, इसमे निर्देशक, अभिनेता, नाटककार तथा अन्य कई व्यक्ति होते हैं। नृत्य अथवा सगीत मे रियाज की बात तो एक ही व्यक्ति से जुडी होती है, जबकि नाटक या रगमच के साथ ऐसा सभव नहीं।**

असल बात यह है कि रगमच एक सामूहिक कला माध्यम रहा है और भारतीय परपरा म समूह कला खत्म हो गई है, साहित्य, सगीत-नत्य सारे 'सालो' हो गए हैं, सामूहिक हैं ही नही। इसीलिए आज समूह कला कटी कटी लगती है। सगीत कहते ही म्यूजिशियन को ले आते है, नत्य कहते ही नतक को ले आते हैं, लेकिन रगमच ने यह सोचा ही नही कि उसी मे सगीतकार को पैदा होना है, नतक को पैदा होना है। और यही सिलसिला टूट जाता है। समूह कला के रूप म जो शृखला, परपरा शुरू होनी चाहिए थी वह हमारे बीच म नही है। बस यही से नकल की फशन की शुरुआत होती है। इसके लिए जिम्मेदार अभिनेता हैं या निर्देशक है—यह कहना गलत है। चूकि नाटक एक

समूह कला है, इसलिए अभिनेता भी जिम्मेदार हैं और निर्देशक व दर्शक भी। वस्तुत हमारे समाज ने ही उसको उस तरह से महत्त्व नही दिया। आज भी यदि रगमच को कलागत रूप मे प्रस्तुत करने की बात उठती है तो वह सबसे महगा कला माध्यम साबित होता है जबकि अपने सामूहिक रूप म वह आज भी सबसे सस्ता कला माध्यम है। सस्ता मैं खच की दृष्टि से कह रहा हू। आज भी अपनी कॉलोनी के चार घरो से शाल कपडे मागकर हम नाटक कर सकते ह, लेकिन सगीत नही कर सकते। समूह कला के रूप म हमने प्रयत्न नहा किया। इसीलिए यह प्रश्न उठता है कि कौन जिम्मेदार है? सबसे अधिक जिम्मेदारी है समाज की। हमारे हिंदी समाज ने तो पूण रूप से समूह दश्य कला को भुला दिया है। श्रेय जाता है तो लोक परपराओ और जातियो को। वहा उन लोगो म कम स कम अभी दृश्य सवेदन है तो। इसीलिए उनके यहा तमाशा जात्रा, यक्षगान अभी भी अस्तित्व म हैं। लेकिन नौटकी? नौटकी हमारे यहा समूह कला के रूप मे नही रही अब। अत हिंदी प्रदेश के परि-पाश्व मे आपका प्रश्न ठीक भी लगता है। लेकिन यदि समूह कला हमारे यहा विकसित नही हो सकी तो उसकी जिम्मेदारी सीधे हमारी फिलासफी पर जाती है। हिंदु फिलासफी के अनुसार अपने-अपने पाप के लिए, पुण्य के लिए हरएक खुद जिम्मेदार है, समाज नही।

क्या भारतीय नाट्य परपरा और पश्चिमी नाट्य शैली के मिश्रण से किसी नयी रगदृष्टि का विकास हो सकता है?

बात यह है कि दोनो का मेल सवेदना के स्तर पर होना चाहिए न कि प्रयोग के स्तर पर। जब हम सवेदना के स्तर पर लेते है तो ग्रीक थियेटर से भी बहुत कुछ प्रेरणा हमे मिलती है। लेकिन यह दो हजार साल पहले की बात है। पर जुडाव सीधा था उसम गहराई थी। वैसा ही सीधापन वही गहराई जब आज के जुडाव म भी हो तो बात बन सकती है। मगर जिस तरह से हम लोग कर रहे है उससे क्या कोई सवेदनात्मक दृष्टि बन सकती है। ड्रामा स्कूल चलाकर भी हम वह दष्टि नही पैदा कर सकते। यह ऊपरी तौर पर बात हो रही है होना तो यह चाहिए कि यह हमारी सामूहिक आवश्यकता बने। जब हमारा समुदाय यह कहता है कि 'दिल्ली म एक ड्रामा स्कूल है' तो लगता है कि लोगो का कुछ पता नही, क्योकि हमारे बडे-बडे नेताओ ने यह कर दिया है कि जो जो लदन अमेरिका और मास्को मे हो रहा है वह सभी कुछ हिंदुस्तान म भी होना चाहिए। लेकिन इस जीवत या जिदा माग नही कहा जा सकता।

जीवत या जिवा किस रूप मे ? क्या आपको ऐसा नहीं प्रतीत होता कि शली और विचारधारा को केंद्र मे रखकर स्कूल का निर्माण किया गया हो ? क्या आपको यह सिफ एक 'फशनेबुल प्रतिक्रिया' मात्र लगता है ?

असल मे काम के दौरान यह नही देखा जाता कि हम सब अपने अपने काम के प्रति कितने सीरियस है, लेकिन आगे जाकर बडे परिवेश म यह कहा जाता है कि "हाय, बेचारा, उसने इतना बडा काम किया।" अथात लाग काम क महत्त्व के प्रति नही, उसक 'बडे' पन की ओर आकर्षित होते हैं। यह तो देख लेते हैं कि बडा काम किया, लेकिन यह नही देख पाते कि चूकि उसकी जरूरत महसूस हुई इसलिए किया गया। यानी विश्लेषण का तरीका फैशन मे ग्रस्त होता है, जबकि करनेवाले फैशन के कारण नही बल्कि सच्चाई के साथ कर रहे होते हैं। उसके लिए तो अस्तित्व का प्रश्न होता है। अमेरिका और लदन म बीस वप रहने के बाद एक व्यक्ति जब भारत लौटता है तो वह यहा भी वहा जैसा ही करना चाहता है। इसका अथ यह कतई नही है कि वह फैशन-ग्रस्त है, सीरियस नही है। सीरियस तो वह है लेकिन हमारे यहा के माध्यमो, हमारी सवेदना के स्तर को वह मद्देनजर नही रखता। वहा के माध्यम, वहा की सवेदना, हम जो कर रहे है उससे बहुत-बहुत अलग पडती है।

रगमच के अतिरिक्त आप नये सिनेमा से भी जुडे रहते हैं। भारतीय फिल्में अय किसी भी विधा की तुलना मे पाश्चात्य प्रभाव के प्रति अधिक उन्मुख रही हैं। इस सबध मे आपकी क्या राय है ?

फिल्म तो अपने आप म एक माध्यम ही पश्चिमी है। चूकि इसका आधार मेकेनिकल है, इसलिए यह सहज ही है कि सारा कुछ पश्चिमी आ जाए। मान लीजिए, मेरे सामने यह माइक है, इसका जो एराल है—जो शेप है वह उनके अनुसार ठीक है उनकी पट-हैट से बिल्कुल ठीक फिट बैठना है, लेकिन हिंदुस्तानी यदि कुछ करता तो वह गोल होता। इसीलिए मेकेनिकल फिल्म के माध्यम से जो चीज आ रही है, वह तो पश्चिम से प्रभावित होगी ही। फिल्म का माध्यम बहुत स्ट्राग है, बहुत पावरफुल, लेकिन कप्लीटली पसनल होता जा रहा है, इडिविजुअल होता जा रहा है। नाटक को यह सौभाग्य कभी प्राप्त नही होगा क्योकि नाटक कभी इडिविजुअल हो ही नही सकता। दोना म नाटक ज्यादा सही है, सोशल है। फिल्म का जब मीडियम ही पश्चिमी है, तो वहा का प्रभाव उस पर रहेगा ही। पर फिर भी, जब हम हिंदुस्तानी फिल्म की बात करते हैं तो प्रमुख पक्ष हो जाता है उसका रीजनलिज्म, उसकी

आंचलिकता । सब कुछ पश्चिमी होते हुए भी उसमे हिंदुस्तानीपन समाया हुआ है ।

इसी संदर्भ मे एक और प्रश्न । नाटको और फिल्मो मे आपने संगीत निर्देशक के रूप मे भी काय किया है, और जहा तक मेरा ख्याल है, उस क्षेत्र मे आपने लोक संगीत को सर्वाधिक प्रमुखता दी है । समकालीन मंच-संगीत किस सीमा तक पाश्चात्य प्रभावों से मुक्त रहा है—क्या इस बारे मे आप कुछ रोशनी डाल सकेंगे ?

फिल्म का माध्यम तो पश्चिमी है, लेकिन उसका सारा ट्रीटमेंट पारसी थियेटरा की जूठन है यहा तो मैं गर्व से कह सकता हू कि हिंदी फिल्मो म अगर कोई चीज सबसे ज्यादा महत्त्वपूर्ण है तो वह है म्यूजिक, संगीत । भारतीय संगीत मे जितने प्रयोग फिल्म संगीत के माध्यम से हुए हैं उतने न तो शास्त्रीय संगीत म हुए, न शास्त्रीय नत्य म और न ही लोक संगीत मे । फिल्म ने हर तरह का प्रयोग किया, लेकिन दुख की बात यह है कि इसके पीछे कोई विचार धारा नही रही—फिलासफी नही रही । हा हिंदी फिल्मो का संगीत जरूर हिंदुस्तानी है, बाकी कुछ भी हिंदुस्तानी नही । हमारे जितने भी संगीतकार हैं क्या वे बडे-बडे विचारक भी हैं ? नही, लेकिन म्युजिक के रूप म हिंदुस्तानी हैं । इसका एक कारण है कि आख जितनी प्रोग्रसिव होती है कान नही होता । आख का चश्मा नही है वह बडी जल्दी ग्रहण कर लेती है, कान नही ग्रहण कर पाता । रंगमंच का संगीत भी इसी तरह का होगा । वह पश्चिमी रंगमंच स प्रभावित नही होगा । पश्चिम के लोग चार चार स्वर एक साथ बजाते है हमारे यहा दो तार भी एक साथ नही बजते । इसलिए उनके यहा आर्केस्ट्रा विकसित हो गया और हमारे यहा सोलोम्युजिक ही विकसित हो सका । भारतीय और पाश्चात्य संगीत के बीच इतन बुनियादी अतर हैं और सस्कारा की इतनी गहरी छाप है कि भारतीय संगीत इतनी जल्दी बदल ही नही सकता । ज्यादह से ज्यादह हम आर्केस्ट्रा का उदाहरण ले सकते हैं । उसके पीछे जो असली कारण है वह जीवनगत है । शहरी जीवन म सुबह उठते ही जो आवाजें सुनाई देती हैं वे कायल या पक्षियो की नही होती बल्कि ट्रेन की, बस की, पेपरवालो की कई-कई तरह की मिली जुली आवाजें हाती हैं और इसी तरह की मिली जुली आवाजें आर्केस्ट्रा स भी निकलती है । तो इसी रूप मे रंगमंच का संगीत पश्चिमी हो सकता है लेकिन उसका स्वरूप है वह पक्का हिंदुस्तानी है । वह बदल ही नही सकता । बल्कि इसक उल्टे मुझे एसा लगता है कि १० १५ साल मे हिंदुस्तानी संगीत (रंगमंच का संगीत हा या फिल्मी संगीत) आसपास के सभी क्षेत्रा म प्रभावित कर देगा । किसी सीमा तक अभी

भी कर रहा है। सिंगापुर, मलाया, अफगानिस्तान और रूस में हिंदुस्तानी संगीत का बहुत असर है।

यथार्थवादी नाटकों की परंपरा में यदि हिंदी रंगमंच की बात की जाए तो किन नाटकों को आप उस श्रेणी में रखेंगे ?

यथार्थवादी नाटकों में केवल एक नाटक शंभू मित्र द्वारा 'बहुरूपी' खेला गया। वैसे यथार्थवादी दृष्टि पूरी तरह भारतीय रंगमंच में आई ही नहीं। थोड़ी-बहुत कोशिश केवलमात्र शंभु मित्र के द्वारा की गई। हिंदी नाटकों में मोहन राकेश के 'आषाढ़ का एक दिन' को यथार्थवादी मानता हूं। उसे बहुत से व्यक्ति रोमांटिक नाटक समझते थे। क्या रोमांटिसाइज होना हमारी रियल लाइफ नहीं है ? आज भी कोई व्यक्ति बरसात में भीगकर उतना ही सुख पाता है जितना कि 'आषाढ़ का एक दिन' की मल्लिका। यह नान रियलिज्म की एक फैंटेसी है। 'आषाढ़ का एक दिन' का कालिदास, बस नाम से ही कालिदास है, उसकी कथा कालिदास की कथा नहीं है, वह मोहन राकेश की कथा है—हिंदी की कथा है।

●●●

अशोक वाजपेयी

इस समय के सबसे विवादास्पद सस्कृतिकर्मी है। उनके पहले कविता सकलन **शहर अब भी सभावना है** और आलोचनात्मक अध्ययन के सकलन **फिलहाल** ने नयी बहस क सिल-सिला को शुरू किया। उनके द्वारा सपादित अनियतकालिक **समवेत,** पद्रह युवा कवियो की रचनाओ के बिल्कुल पहले सकलनो की सीरीज—**पहचान** और साहित्य और कलाओ के आलोचना द्वैमासिक—**पूर्वग्रह** ने भी हिंदी साहित्य ससार का ध्यान अपनी ओर खीचा है। पूव म **पूर्वग्रह** मे सगहीत महत्त्वपूण समीक्षाओ का एक चयन **तीसरा साक्ष्य** भी प्रकाशित हुआ है।

फिलहाल वे भोपाल रह रह है और मध्य प्रदेश शासन सस्कृति तथा सूचना प्रकाशन विभाग के विशेष सचिव है। साथ ही मध्य प्रदेश कला परिषद के सचिव और उस्ताद अलाउद्दीन खा सगीत अकादेमी के सचालक-पद की जिम्मेदारी भी निभा रहे है।